नाइजीरिया – सिनेमा हॉल की ज़मीन पर

ब्रायन लार्किन

"ज़रा मुझे प्लाज़ा पर छोड़ देना।" "एल डोराडो पर मिलना।" उत्तरी नाइजीरिया के कानो शहर में राह चलते कही गई इन दिशासूचक बातों से इस शहर में सिनेमाघरों की भूमिका साफ़ समझी जा सकती है। कानो के शहरी भू-दृश्य में विशालकाय इमारतें जगह-जगह सिर उठाए खड़ी दिखाई देती हैं। यहाँ की बसें, टैक्सियाँ, और मोटरबाइकें हर रोज़ लोगों को घर से काम, काम से बाज़ार, और बाज़ार से वापस घर लेकर आती हैं। इस दौरान यहाँ के लोग लाज़िमी तौर पर इन इमारतों से भी रूबरू होते हैं। हालाँकि इनमें से ज़्यादातर मुसाफ़िरों की फ़िल्मों या थियेटर में ख़ास दिलचस्पी नहीं होती मगर अपने सार्वजनिक परिक्षेत्र को सिनेमाघरों, मस्जिदों, डाकख़ानों, अमीर के महल और उपनिवेशवादी ज़माने के बाद बनी दूसरी संस्थाओं के ज़रिए पहचानना उन्होंने अच्छी तरह सीख लिया है। इन सिनेमाघरों के बाहर बहुत सारे छोटे-मोटे दुकानदार, यूँ ही वक़्त काटते ठलुए, मेकैनिक और फ़िल्मों के शौक़ीन सिनेमा द्वारा रची गई एक ख़ास सामाजिक दुनिया पर निर्भर रहते हैं। सिनेमाघरों के पीछे और आजू-बाजू में लड़के उनकी ऊँची-ऊँची काली दीवारों के सामने फ़ुटबॉल खेलते हैं। बीच-बीच में कुछ लोग उस दीवार पर जाकर पेशाब भी कर आते हैं जहाँ बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा हुआ है कि "यहाँ पेशाब न करें"।

इस लेख में सिनेमा की भौतिकता की पड़ताल करने की कोशिश की गई है। हालाँकि यह लेख सिनेमा की फ़ंतासियों से बनने वाली दुनिया के बारे में है, मगर ऐसा कहने से मेरा आशय उस जादुई दुनिया से नहीं है जिसमें सिनेमा अपने दर्शकों को ले जाता है। बल्कि मैं तो फ़ंतासी को आम चीज़ों में, ख़ासतौर से दैनिक ज़िंदगी के जिन्सीकृत तत्त्वों की ठोसता में छिपी ऊर्जा के रूप में देखता हूँ (देखें बेंयामिन 1978)। ये चीज़ें सिर्फ़ ऐसे उत्पाद नहीं हैं जिन्हें लोग ख़रीदते हैं बल्कि ये चीज़ें शहरी रिहाइश को उसका परिपूर्ण ऐन्द्रिक अनुभव प्रदान करती हैं। दूसरे शब्दों में, मेरा यह निबंध सार्वजनिक संस्थानों के तौर पर सिनेमाघरों की भौतिक संस्कृति के बारे में है। इसमें मैंने शहरी भू-दृश्य में सिनेमाघरों के वास्तुशिल्प और उनकी जगह को लेकर चली खींचतान को औपनिवेशिक शहरीकरण के थोपे जाने की ठोस उपमाओं और औपनिवेशिक जीवन में आधुनिकता के अनुभवों के तौर पर आँकने की कोशिश की है।

कानो में सिनेमाघरों की आमद के साथ कई तरह के विवाद उठ खड़े हुए। एक विवाद इस बात को लेकर था कि शहर में थियेटर या सिनेमाघर किस जगह बनाए जाएँ। इस नई तकनीक के शैतानी स्वरूप की अच्छाइयों-बुराइयों और इस बात को लेकर भी ख़ूब बहस थी कि किसको सिनेमा में जाने दिया जाए और किसको नहीं। सिनेमाघरों ने सामाजिक मेल-मिलाप के ऐसे नए तरीक़े गढ़ दिए जो स्थान, स्त्री-पुरुष और सामाजिक ऊँच-नीच के प्रचलित संबंधों को चुनौती देते थे। सिनेमाघरों को लेकर उठने वाले ये विवाद अकसर शहरी स्थान के पुनर्सीमांकन में संघर्ष के क्षण थे। एक तरह से देखें तो ये विवाद अतिक्रमणकारी और आक्रामक औपनिवेशिक आधुनिकता के सामने हौसा समुदाय की नैतिक पहचान और दायरे को पुनर्परिभाषित और पुनर्निर्मित करने के प्रयास थे। हौसा समुदाय में सिनेमा जैसी नई टेक्नॉलजी की... क्या हो, यह तय होना अभी बाक़ी था। सिनेमा के बारे में हौसा समुदाय के लोगों की सोच, उनकी कहानियाँ और अफ़वाहें तथा इस टेक्नॉलजी का ज़िक्र करने के लिए

इस्तेमाल होने वाले शब्द — इन सब में उपनिवेशवाद और शहरी अनुभवों के इतिहास की छाप दिखाई देती है। इनसे हमें पता चलता है कि एक टेक्नॉलजी के रूप में सिनेमा किस तरह हौसा समुदाय में दाख़िल हुआ और कैसे लोगों की कल्पनाओं का केंद्रबिंदु बन गया।

औपनिवेशिक शासन से आज़ाद हुए नाइजीरिया जैसे अफ़्रीकी देशों में सिनेमा जाना कोई साधारण या स्थानीय अनुभव नहीं था। यह एक ऐसा अनुभव रहा है मानो आप अफ़्रीका के बाहर किसी देश की सैर पर जा रहे हों।[1] सिनेमाघर की गैलरी से उसकी अंधेरी रात में दाख़िल होने पर दर्शक जादुई ढंग से एक ऐसी दुनिया में पहुँच जाता है जहाँ अमेरिकी यथार्थ, भारतीय भावनाएँ और हाँगकाँग की नृत्य रचना न जाने कब से नाइजीरियाई रजत पट की फ़ंतासी पर क़ब्ज़ा जमाए बैठी है। मगर सिनेमाघर एक अनूठा सामाजिक परिक्षेत्र है। वहाँ मौजूदगी और ग़ैर-मौजूदगी, जड़ता और आवागमन का द्वैध दिखाई देता है। लिन किर्बी (1997) के शब्दों में वहाँ गति के बिना यात्रा का सा विरोधाभास दिखाई देता है। लोगों, विचारों और वस्तुओं को आंदोलित व अस्थिर कर देने की अपनी इस क्षमता के कारण ही सिनेमा को निर्णायक रूप से आधुनिक माना जाता है। सांस्कृतिक औपनिवेशिकता के भूत को जन्म देने वाली पल-पल बदलती तस्वीरों की बौछार स्थानीय दायरों की सीमाओं को ख़तरे में डाल देती है। सिनेमा यात्रा की यह प्रक्रिया दुविधापूर्ण भी है और बहुअर्थी भी। राष्ट्रों के आर-पार होते सांस्कृतिक प्रवाहों के ज़रिए यह प्रक्रिया "स्थान की सांस्कृतिक विशिष्टता" (वॉर्ड्स 1996: 64) को कमज़ोर करने लगती है। लेकिन एक सांस्कृतिक परत रच कर यह अपनेपन के स्वरूपों को दोबारा पुष्टि और सघनता भी प्रदान कर सकती है क्योंकि इस परत के विरुद्ध देशी धार्मिक, जातीय और राष्ट्रीय पहचानें और पुख़्ता भी हो सकती हैं। और आख़िर में, इस्लामी या हिंदू पुनर्नवीकरण के ज़रिए यह प्रक्रिया आधुनिकता के ऐसे वैकल्पिक स्रोतों को भी बढ़ावा दे सकती है जो स्थान और समाज के रूपांतरण के अपने विशिष्ट तरीक़ों के आधार पर पश्चिमीकरण की प्रतिक्रिया में आकार लेते हैं।

अपने एक और लेख में मैंने इसी तरह मीडिया के सामाजिक परिक्षेत्र का भी विश्लेषण किया है। वहाँ मैंने फ़ंतासियों की उस दुनिया का विश्लेषण किया है जहाँ सिनेमा अपने दर्शकों को ले जाता है। उस लेख में मैंने इस बात को समझने की कोशिश की है कि हौसा दर्शक भारतीय फ़िल्मों को किस तरह एक ऐसे सुरक्षित तीसरे दायरे के रूप में देखते हैं जहाँ वह पश्चिमी आधुनिकता और हौसा परंपराओं के विकल्प की कल्पना कर सकते हैं (देखें लार्किन 1997)। (हालाँकि सिनेमाघरों को अकसर एक ऐसे कारक के रूप में देखा जाता है जो आवाजाही और गतिशीलता को बढ़ावा देता है। मगर इसके साथ ही ये इमारतें शहरी भू-दृश्य का एक बेहद संकीर्ण और अंतरंग हिस्सा भी हैं जो अपने इर्द-गिर्द ऐसे सामाजिक व्यवहारों का एक ढेर जुटा लेता है।) सामाजिक व्यवहार सिनेमा जाने की क्रिया को एक ऐसी घटना में तब्दील कर देते हैं जिसका मक़सद स्क्रीन पर दिखाई जाने वाली फ़िल्मों से कहीं बढ़कर होता है — और कई बार तो उसका इन फ़िल्मों से कोई संबंध ही नहीं होता। मीडिया के सामाजिक परिक्षेत्र का यह आयाम उन स्थानों पर ध्यान केंद्रित करता है जिन्हें सिनेमाघर अपने भौतिक गुणों और शहरी भू-दृश्य में अपनी जगह के ज़रिए रच देते हैं। यहाँ मेरा फ़ोकस "विशिष्ट दायरों की भौतिकता" पर है जो "वस्तु के ऐंद्रिक और भौतिक गुणों" की ओर ध्यान आकर्षित कर देती है और इन गुणों के ज़रिए "हम सांस्कृतिक जीवन और मूल्यों के साथ सूक्ष्म संबंधों की परतें खोल पाते हैं" (मिलर 1997: 9)। बहुत सारे विद्वानों ने सिनेमा जाने की क्रिया को एक बोधात्मक व्यवहार के रूप में देखने के चक्कर में सिनेमा के स्थान को एक तटस्थ नज़र से देखने की कोशिश की है। हालाँकि हॉलीवुड, बॉलीवुड तथा अन्य राष्ट्रीय सिनेमाओं ने दर्शकों में समरूपता पैदा करने के लिए पाठीय संबोधन के संबंधों का नियमन करने के लिए काफ़ी ज़ोर लगाया है परंतु व्यवहार में सिनेमा का अनुभव अभी भी अत्यंत स्थानीय क़िस्म का ही है। एक ठोस व्यावसायिक रूप ले चुकने के बावजूद सिनेमाघर हमारे सामने ऐसी भौतिक वस्तुएँ प्रस्तुत नहीं करते जिन्हें हम अपने साथ घर ले जा सकें। वह हमें सिर्फ़ ऐसा भावनात्मक अनुभव ही उपलब्ध करा पाते हैं जो प्रकाश, दृष्टि, गति और सामाजिकता के ख़ास संबंधों से नियंत्रित ऐंद्रिक वातावरण पर आधारित होता है।[2] सिनेमाघरों के भवनों का विश्लेषण करते हुए और कानो के मानचित्र पर उनकी जगह के चुनाव को लेकर चली खींचतान का विश्लेषण करते हुए मैं सिनेमा के अध्ययन को उन सामाजिक व्यवहारों के अध्ययन की तरफ़ मोड़ना चाहता हूँ जो इन थियेटरों से पैदा होते हैं।

यहाँ मैं इस बात की पड़ताल करना चाहता हूँ कि सिनेमा के इर्द-गिर्द एक ख़ास वातावरण किस तरह रचा जाता है। इसके सहारे मैं औपनिवेशिक शहरीकरण के स्वरूप को भी समझने की कोशिश करूँगा।

सिनेमा, फ़िनौमनॉलजी और औपनिवेशिक आधुनिकता

वॉल्टर बेंयामिन ने ऐसी वस्तुओं की बेहद शक्तिशाली व्याख्याएँ रची हैं जो इतिहास के आवेग में लुप्त हो चुकी थीं या जिनकी अहमियत सामाजिक और आर्थिक संरचना में आ रहे बदलावों में दब चुकी थी। मिसाल के तौर पर, पेरिस के आर्केड्स के बारे में उनका प्रसिद्ध विश्लेषण इन तोरण पथों के नएपन पर नहीं बल्कि इस तथ्य पर आधारित था कि कभी वह भी नए थे और अब उनका ऐतिहासिक क्षण बीत चुका है। बेंयामिन के दोस्त एडॉर्नो के मुताबिक़ उन्होंने "सांस्कृतिक टुकड़ों की एक ऐसी पथरीली... या पुरानी पड़ चुकी फ़ेहरिस्त" रची जिसने हमें ऐतिहासिक प्रक्रिया या "संस्कृति की अभिव्यक्ति" का ठोस दैहिक स्वरूप उपलब्ध करा दिया (बक-मोर्स में उद्धृत, 1989: 58)। बेंयामिन ने भौतिक संस्कृति के इस आकर्षक सैद्धांतीकरण के बारे में सीगफ़्राइड क्रैकॉव से भी ज़िक्र किया जिन्होंने हाशिए के, क्षणिक, और ठोस के ऐतिहासिक-दार्शनिक अध्ययन की आधारशिला रखी थी। बेंयामिन की तरह क्रैकॉव भी सतह पर दिखाई देने वाली परिघटना में ही दिलचस्पी ले रहे थे और उनका तर्क था कि उनका हाशियाई, व्यापक उत्पादित स्वरूप सामाजिक व्यवस्था के लिए एक उद्बोधक तत्त्व है। अपने निबंध "दि मास ऑर्नामेंट" में उन्होंने लिखा कि "ऐतिहासिक प्रक्रिया में एक युग को जो जगह मिलती है, वह... उसकी अचेत सतह स्तरीय अभिव्यक्तियों के विश्लेषण से निर्धारित की जा सकती है।" इस निबंध में उन्होंने तर्क दिया कि "अभिव्यक्तियाँ... अपने अचेत स्वरूप के परिणामस्वरूप चीज़ों की स्थिति की बुनियादी अंतर्वस्तु तक एक प्रत्यक्ष पहुँच मुहैया करा देती हैं" (क्रैकॉव 1995: 75)।

क्रैकॉव और बेंयामिन, दोनों के लिए ही ज़िंदगी का दैनिक पठार — दीवार पर लगे पोस्टर, दुकानों पर लगे बोर्ड, नाचने वाली लड़कियाँ, धड़ाधड़ बिकती किताबें, पैनोरमा, शहर की बसों का आकार, शक्ल और आवाजाही — ये सारी चीज़ें उस फ़ंतासीपूर्ण ऊर्जा की सतही अभिव्यक्तियाँ हैं जिनके ज़रिए समूह अपनी सामाजिक व्यवस्था को देखता है। यह संरचना आधुनिकता की शहरी संस्कृति का एक परस्पर गुंथा हुआ विश्लेषण मुहैया कराती है। ऐसा विश्लेषण जिसमें एक-दूसरे से बिलकुल विपरीत परिघटनाएँ संरचनागत ढंग से एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं। बेंयामिन को यांत्रिक पुनरुत्पादन के बोधात्मक और मनोवैज्ञानिक प्रभावों के लिए जाना जाता है। इस यांत्रिक पुनरुत्पादन ने दृष्टि, बोध और यांत्रिकता से संबंधित सिनेमा अध्ययनों में विश्लेषणात्मक परंपरा को काफ़ी बल दिया है। क्रैकॉव और बेंयामिन, दोनों की रचनाएँ मानवविज्ञानियों को इसलिए आकर्षित करती हैं क्योंकि ये रचनाएँ दैनिक जीवन पर केंद्रित हैं और अफ़्रीकी अध्ययनों और मानवशास्त्र में शहरी भौतिकता की एक बृहत्तर परिघटना के हिस्से के तौर

पर जनसंस्कृति का सैद्धांतीकरण करके आलोचनात्मक शहरीकरण और सिनेमाई अध्ययनों को ऐतिहासिक और जातिशास्त्रीय रचनाओं के साथ जोड़ने का एक समृद्ध समाजशास्त्रीय साधन उपलब्ध कराती हैं।[3]

शहरी मानचित्र पर सिनेमाघरों की जगह और सिनेमाघरों के निर्माण में इस्तेमाल होने वाली शिल्प-शैली के ज़रिए यहाँ मैं औपनिवेशिक आधुनिकता के स्वरूप की पड़ताल कर रहा हूँ। रंग-बिरंगी कंक्रीट, बिना छत वाले रजत पट और बाज़ारों से नज़दीकी औपनिवेशिक पूँजीवाद और उस पर हौसा समुदाय की प्रतिक्रिया, दोनों की संरचनात्मक परिस्थितियों के बारे में "स्थानीय परिस्थिति के ज्ञान" (क्रैकॉव 1995: 75) को उजागर करती हैं। कानो में सिनेमाघरों को औपनिवेशिक सार्वजनिक परिक्षेत्र के रूपांतरण की एक व्यापक परिघटना के तहत लाया गया था। पहले ही वहाँ पहुँच चुके बीयर पार्लरों, थियेटरों, सार्वजनिक बग़ीचों, पुस्तकालयों और व्यावसायिक सड़कों की तरह सिनेमाघरों ने भी स्थानीय समाज में मेलजोल के नए मौक़े व तौर-तरीके उपलब्ध करा दिए। ये ऐसे तरीक़े थे जो सार्वजनिक जीवन पर हावी मौजूदा सामाजिक और लैंगिक भेदभाव और ऊँच-नीच को चुनौती देते थे। नतीजतन, सिनेमाघरों ने सामाजिक मेलजोल के ऐसे नए तरीक़े गढ़ दिए जिनको नियंत्रित करना ज़रूरी था। अधिकृत रूप से यह काम औपनिवेशिक प्रशासन के कंधों पर था जबकि अनधिकृत रूप से इस मक़सद को हासिल करने के लिए हौसा समुदाय के रीति-रिवाजों का सहारा लिया गया। ये सिनेमाघर न केवल एक नए समुदाय की रचना कर रहे थे, बल्कि उन्होंने इस समुदाय को क्षैतिज स्तर पर व्यवस्थित करने के नए रास्ते भी खोले (मिशेल 1991; थॉम्पसन 2000)।

मैं सिनेमाघरों के उदय को एक रूपांतरकारी शहरी आधुनिकता की व्यापक परिघटना के हिस्से के तौर पर देखना चाहता हूँ। यह एक ऐसी रूपांतरकारी शहरी आधुनिकता थी जो जेंडर, वर्ग और व्यक्ति के संबंधों को तहस-नहस कर रही थी। इस उथल-पुथल की अपनी संभावना के चलते सिनेमाघर वास्तव में किस तरह विकसित हुए और तकनीकी एवं मनोरंजक व्यवहारों के रूप में उनके इर्द-गिर्द के सामाजिक संबंध किस प्रकार अस्तित्व में आए, इसे किसी स्वतःस्फूर्त प्रक्रिया का परिणाम मान लेना सही नहीं होगा। असल में ये इसके भीतर चल रही खींचतान का परिणाम थे। सिनेमा को नियंत्रित करने की औपचारिक और अनौपचारिक कोशिशें — सिनेमाघर कहाँ बनाया जाए, सिनेमा में कौन जाएगा और कौन नहीं जाएगा, और वहाँ कैसी फ़िल्में दिखाई जा सकती हैं — इन सब पर भारी विवाद था। इन सवालों के ज़रिए स्थानीय सामाजिक, जातीय एवं लैंगिक मूल्य-मान्यताओं के भीतर एक परा-राष्ट्रीय परिघटना घट रही थी। न्यूयॉर्क, मुंबई, लंदन और कानो, सभी जगह सिनेमाघरों के उदय के साथ इस तरह की बातें जुड़ी रही हैं परंतु औपनिवेशिक शासन के साथ ख़ास तरह के संबंध औपनिवेशिक समाजों में सिनेमाघरों के उदय की परिघटना को बुनियादी तौर पर एक भिन्न स्वरूप प्रदान कर देते हैं। मिसाल के तौर पर, संयुक्त राज्य अमेरिका में सिनेमाघरों का उदय आप्रवासी मज़दूरों को मनोरंजन का ज़रिया उपलब्ध कराने के लिए हुआ था। अमेरिकी सिनेमाघरों के बारे में प्रचलित सबसे शक्तिशाली कहानियों में से एक इस बारे में है कि वहाँ के उद्यमियों ने सिनेमा को एक बुर्ज़ुआ मनोरंजन स्रोत के रूप में मान्यता दिलाने के लिए किस कदर जद्दोजहद की थी।[4] औपनिवेशिक प्रसंग में यह समीकरण बिल्कुल उलट जाता है। ज़्यादातर जगह सिनेमा को स्थानीय यूरोपियनों और देशी अभिजात्य वर्ग के मनोरंजन के विदेशी औपनिवेशिक साधन के रूप में लाया गया था और जब यह समाज में ख़ासा लोकप्रिय हो गया तब जाकर जनता को भी सिनेमाघरों या प्रेक्षागृहों में दाख़िल होने की छूट दी गई। बाक़ायदा निम्नवर्गीय गतिविधि की बजाय यहाँ इसे अकसर अभिजात्य और नस्ली भेदभाव की बुनियाद पर खड़े मनोरंजन के साधन के रूप में देखा जाता था। इन सब चीज़ों के बावजूद ज़्यादातर जगह सिनेमा देखने जाना कुछ ही समय के भीतर एक स्थानीय, ठेठ देशी गतिविधि बन गया (और उल्लेखनीय है कि भारत के मामले में तो फ़िल्म निर्माण भी एक ठेठ देशी परिघटना बन गया)।

सिनेमाघरों का वास्तु-नियोजन

अपनी भौतिकता, काल और परिवेश में पुनरुत्पादन की अपनी क्षमता और महानगरीय भूदृश्य पर अपनी सर्वव्यापी मौजूदगी के कारण सिनेमाघर या सिनेमा हॉल हमारे चिर-परिचित संगी मालूम पड़ते हैं। थियेटरों की तात्त्विक सुरक्षा दरअसल प्रेक्षागृह की औपचारिक ठोसता से पैदा होती है जो दर्शकों को एक जाने-पहचाने क्षैतिज विन्यास में

बाँध देती है। थियेटर के भीतर दर्शक पर्दे पर रोशनी और अंधकार के वायवीय दृश्य के सामने क़तारों में बैठे रहते हैं। दुनिया के ज़्यादातर हिस्सों में थियेटर लोगों की ज़िंदगी का हिस्सा बन चुका है। हम इसकी मौजूदगी पर सवाल खड़ा नहीं करते और न ही किसी ऐसे युग की कल्पना कर पाते हैं जब इस पर सवाल खड़ा किया जा सकता था, जब इसकी रचनात्मकता ने एक शक्तिशाली रूपांतरकारी क्षमता को जन्म दिया था। परंतु हमारी ज़िंदगी का हिस्सा होने का यह भ्रामक आयाम है और यह उस प्रक्रिया को ढँक देता है जिसके ज़रिए एक भौतिक, सार्वजनिक दायरा सामाजिक रूप ले लेता हैः जब मिथक के निर्माण की प्रक्रिया में हम इतिहास को भूल जाते हैं (बार्था, 1972)। सिनेमाघरों की आमफ़हम मौजूदगी औपनिवेशिक शासन की उन ऐतिहासिक परिस्थितियों पर पर्दा डाल देती है, जिन्होंने इस तकनीक को संभव बनाया था।

औपनिवेशिक शहरों में सिनेमाघरों के निर्माण से यौन, जातीय, धार्मिक एवं नस्ली मेलजोल के नए सामाजिक स्थल पैदा हुए। परा-राष्ट्रीय तकनीक के रूप में न तो किसी एक देश की इस पर चौधराहट है न ही इसकी अपनी कोई नियत अस्मिता है। नतीजतन सिनेमाघरों की स्थिति एक ऐसे तनाव-बिंदु की हो गई, जिसके खुलेपन से पारंपरिक ऊँच-नीच व सामाजिक दायरों को ख़तरा महसूस होता है। यह उभयवृत्ति इस बात से साफ़ दिखाई देती है कि औपनिवेशिक शासकों ने इस नई संस्था की रूपांतरकारी क्षमता को नियंत्रित करने के लिए बहुत सारे तरीक़े अपनाए थे और उसे मौजूदा लैंगिक विभाजनों के सांचे में ढालने की कोशिश की थी। उदाहरण के लिए, भारत में सिनेमाघरों के अलग-अलग दरवाज़े बनाए गए ताकि महिलाएँ पुरुष दर्शकों के संपर्क में आए बिना सिनेमाघरों में आ-जा सकें (अरोड़ा, 1995)। दमिश्क में महिलाओं की बढ़ती आवाजाही की चिंता और अंतर्लैंगिक मेलजोल के ख़तरे को सीमित करने के लिए दोपहर बाद के शो केवल महिलाओं के लिए आरक्षित कर दिए गए (थॉम्पसन, 2000)। केन्या के लामू इलाक़े में इस ख़तरे पर क़ाबू पाने के लिए वहाँ भी हफ़्ते में एक रात औरतों के लिए आरक्षित कर दी गई। इसे वहाँ 'स्त्रियों की रात' कहा जाता था (फ़्यूजलेसांग, 1994)। उत्तरी नाइजीरिया में अंतर्लैंगिक मेलजोल को लेकर अनैतिकता फैलने का भय इतना गहरा था कि वहाँ महिलाओं की ज़िंदगी में सिनेमाघरों को कभी भी सामाजिक स्वीकृति नहीं मिल पाई। अगर सिनेमाघरों को लेकर इतनी सारी जगहों पर इतनी हाय-तौबा मचाई गई और इतने क़ायदे-क़ानून बनाए गए तो ज़ाहिर है कि सामाजिकता के दायरे के रूप में सिनेमा हॉल का अध्ययन कितना ज़रूरी है। इसलिए सिनेमाघरों को न तो निरा नैसर्गिक माना जाए न ही महज़ औपनिवेशीकरण की तकनीक। असलियत यह है कि सिनेमाघर सोच-समझ कर बनाए गए थे और निर्माण की इस प्रक्रिया में चले संघर्ष में औपनिवेशिक शहरीकरण के तनाव सबसे आगे दिखाई पड़ते हैं।

अक्टूबर 1937 में लेबनान के एक उद्योगपति ने ब्रिटिश औपनिवेशिक सरकार से कानो शहर में रेक्स सिनेमा के निर्माण की इजाज़त माँगी। इसे शहर का पहला सोद्देश्य निर्मित सिनेमा होना था। रेक्स सिनेमा को एक ओपन एअर यानी खुली छत वाले सिनेमाघर के रूप में बनाया गया। इसे 'गार्डन सिनेमा' भी कहा जाता था। उसमें दो कमरों के अलावा एक 'बार' का भी इंतज़ाम किया गया था। आवेदन देने वाले उद्योगपति का प्रस्ताव था कि इस बार को 'बेहद सुरुचिपूर्वक और पत्थरों से बनाया जाएगा' (नाइजीरियाई राष्ट्रीय अभिलेखागार, संख्या 171; द बेस्ट अफ़्रीका पिक्चर कंपनी, संख्या 172)। दो साल बाद जब उत्तरी नाइजीरिया की राजधानी कडुना में एक होटल मालिक जे. ग्रीन एम्बादिवे ने कानो में एक ज़्यादा औपचारिक और भव्य होटल एवं सिनेमा परिसर बनाने के लिए लाइसेंस की अर्ज़ी दी तो प्रदर्शन के इस स्वरूप में कुछ बदलाव कर दिए गए। इस आवेदन में आश्वासन दिया गया था कि प्रस्तावित सिनेमाघर में 'वह सभी आधुनिक सुविधाएँ उपलब्ध कराई जाएँगी जो दुनिया के अभिजात्य देशों के प्रथम श्रेणी होटलों और सिनेमाघरों में पाई जाती हैं' (नाइजीरियाई राष्ट्रीय अभिलेखागार)। हालाँकि एम्बादिवे की अर्ज़ी ख़ारिज कर दी गई मगर उसका यह प्रस्ताव इस बात की गवाही ज़रूर देता है कि उस समय नाइजीरिया में सिनेमाघरों को किस तरह देखा जाता था। आवेदन में निर्माण सामग्री की गुणवत्ता और कानो के सिनेमाघरों को पश्चिम के 'प्रथम श्रेणी' सिनेमाघरों के मुक़ाबले खड़ा करने का गर्वपूर्ण दावा इस बात की पुष्टि करता है कि इन सिनेमाघरों के मालिक अभिजात्य युरोपीय ग्राहकों को आकर्षित करने के लिए किसी भी हद तक जाने को तैयार थे। 'विश्व के अभिजात्य देशों' में पाई जाने वाली प्रथम श्रेणी सुविधाओं पर इस आग्रह के ज़रिए युरोपीय ग्राहकों को इस बात का भरोसा दिलाने की कोशिश की जा रही थी कि इन

सिनेमाघरों में उन्हें जाना-पहचाना माहौल मिलेगा। दूसरी तरफ़ स्थानीय हौसा दर्शकों के लिए यह भव्यता का एक विशिष्ट नज़ारा था। सिनेमाघर में 'बार' के समावेश से इस बात का आश्वासन दिया जा रहा था कि केवल सिनेमाई अनुभव के अलावा वहाँ 'ठंडी हवा और शाम का मज़ा लूटने के लिए आने वाले' यूरोपियनों को मौज-मज़े के साधन भी उपलब्ध कराए जाएँगे (फ़्यूजलेसांग, 1994)। इन शुरुआती सिनेमाघरों की बनावट और सामाजिक उपादेयता औपनिवेशिक आधुनिकता के एक और सार्वजनिक दायरे — होटल — से गहरे तौर पर जुड़ी हुई थी। होटल की तरह सिनेमा भी एक ऐसा सार्वजनिक दायरा है जहाँ आपकी पहचान उजागर नहीं होती। लोग कुनबे-कुटुम्ब, धर्म या जातीयता के बँधनों से आज़ाद होकर यहाँ थोड़ी देर के लिए इकट्ठा होते हैं और फिर अपनी-अपनी दिशाओं में चल देते हैं। सिनेमा को होटल की तर्ज़ पर बनाने का मतलब था कि इस पूरे अनुभव को केवल फ़िल्म देखने के इर्द-गिर्द नहीं बुना जा रहा था। यह विदेशियों के आमोद-प्रमोद के लिए अस्तित्व में आ रही मनोरंजन गतिविधियों के एक व्यापक ताने-बाने का हिस्सा था।

परिवर्तन की औपनिवेशिक विचारधारा के उत्पादन की हैसियत से सिनेमाघरों को वास्तु नियोजन औपनिवेशिक शासन की ख़ास ऐतिहासिक परिस्थितियों को अभिव्यक्त एक सामाजिक दायरे के रूप में सिनेमाघरों ने एक नए क़िस्म की 'पब्लिक' को जन्म दिया। यह 'पब्लिक' 'मनुष्यों को सिद्धांततः बेनाम और परस्पर स्थानापन्न सदस्यों के एक क्षितिज के रूप में देखने' पर अस्तित्व में आती थी (बार्बर, 1997: 348)। क्रैकॉव ने इस 'पब्लिक' को 'भीड़' कहा उनका तर्क है कि सिनेमाघर में दर्शकों के बैठने की व्यवस्था 'क़तार-दर-क़तार क़िस्म की है जहाँ अकेला दर्शक भीड़ के समूचेपन के सामने गौण पड़ जाता है' (क्रैकॉव, 1998; क्रैकॉव एवं लेविन 1995: 79)। सिनेमाघरों में बैठने की व्यवस्था से औपनिवेशिक शासन की नई दैहिक बनावट का संकेत मिलता है हालाँकि यह व्यवस्था इस नई बनावट के क़ाबू में कभी नहीं रह सकती थी। एक अमूर्त और समरूप समुदाय के निर्माण की कोशिश ऊँच-नीच और विशिष्टता के औपनिवेशिक एवं हौसा क़ायदे-क़ानूनों के सामने बेअसर हो जाती थी। सिनेमा की अवधारणा में श्वेत दर्शकों के बैठने की अलग व्यवस्था इसी का एक उदाहरण है।

भारी ऊँच-नीच वाले औपनिवेशिक विश्व में साझा सार्वजनिक दायरे की एक फ़ौरी समस्या नस्ली मेलजोल की आशंका में निहित थी। अलग-अलग नस्ल के दर्शकों को एक साथ रखने के कौन से परिणाम हो सकते थे? लोगों की आशंकाओं को ध्यान में रखते हुए रेक्स सिनेमा के लेबनानी मालिकों ने शुरुआत में यह तय किया था कि उनके सिनेमा में युरोपीय दर्शक ही आएँगे। बाद में उन्होंने सिनेमाघर की समय-सारणी में दो दिन केवल यूरोपियनों व अरबों के लिए और दो दिन केवल अफ़्रीकी दर्शकों के लिए तय कर दिए। यह पृथक्करण जानबूझ कर किया गया था मगर अभी भी यह अनौपचारिक ही था और इसे मोटे तौर पर सीटों की क़ीमत के ज़रिए लागू किया जा रहा था।[5] जे. ग्रीन एम्बादिवे एक क़दम और आगे निकल गए। उन्होंने प्रस्ताव रखा कि वह अपने सिनेमा के प्रेक्षागृह को दो बिल्कुल अलग हिस्सों में बाँटेंगे। एक हिस्से में युरोपीय दर्शक बैठेंगे और दूसरे में अफ़्रीकी। दोनों हिस्सों के प्रवेश द्वार भी अलग-अलग होंगे। उनके प्रस्ताव में दोनों हिस्सों के बीच एक अग्निशमन द्वार के अलावा और कोई संपर्क नहीं था और इस दरवाज़े के बारे में भी उन्होंने अधिकारियों को पूरा यक़ीन दिलाया कि वह 'हमेशा बंद ही रहेगा' (क्रैकॉव, 1998; क्रैकॉव एवं लेविन, 1995: 79)। सिनेमाघरों के वास्तु नियोजन में नस्ली पृथक्करण की व्यवस्था को सूत्रबद्ध करने की इस कोशिश से पता चलता है कि सिनेमाघर की ठोस भौतिकता भेदभाव (इस मामले में नस्ली भेदभाव) की स्थानीय विचारधाराओं को किस प्रकार अभिव्यक्त करती है। अग्नि सुरक्षा नियमों के विषय में लागोस के प्रधान सचिव को उत्तरी प्रांतों के सचिव द्वारा लिखी गई चिट्ठी से यह सकते में डाल देने वाली सच्चाई सामने आती है कि किस तरह सिनेमाघरों का भौतिक दायरा भी नस्ली पूर्वाग्रह की ख़ास औपनिवेशिक स्थिति का परिणाम हो सकता है:

> बैठने की व्यवस्था के बारे में: कुछ अफ़्रीकियों में यह स्वाभाविक प्रवृत्ति पाई जाती है कि ख़तरे की मामूली सी अफ़वाह पर भी वे बदहवास हो जाते हैं। ऐसे में ये बेहतर होगा कि इंग्लैंड में प्रचलित प्रावधानों के विपरीत नाइजीरिया के सिनेमाघरों में जमी हुई सीटों के बीच अच्छी-ख़ासी जगह छोड़ी जाए। उनके बीच में गुज़रने के लिए चौड़ी जगह हो और हॉल से निकास के लिए

ज़्यादा बड़े और ज़्यादा संख्या में दरवाज़े बनाए जाएँ (नाइजीरियाई राष्ट्रीय अभिलेखागार एवं एम.आई.ए.; सचिव उत्तरी प्रांत, 1932)।

कानो में शाही ब्रिटिश मौजूदगी सिनेमाघरों के नामकरण में भी दिखाई देती थी। रेक्स के बाद कानो के पहले सिनेमा का नाम पैलेस रखा गया। बाद में क्वींस थियेटर आया। इन नामों से सिनेमा के अनुभव में शाही शानो-शौक़त के दर्शन का आश्वासन मिलता था।[6] कानो के दूसरे सिनेमाघरों को अरबी नाम दिए गए, जैसे अल दुनिया, और हाल ही में मरहबा (स्वागत के लिए इस्तेमाल होने वाला अरबी शब्द)। इन अरबी नामों से पता चलता था कि इन सिनेमाघरों के मालिक अरबी मूल के हैं। ये नाम हौसा समुदाय और अरब विश्व के बीच सांस्कृतिक संबंधों को भी रेखांकित करते थे। एल डोराडो (जिसे साम्राज्यवादी कल्पना में लंबे समय तक बेहिसाब धन-दौलत के उस लुप्त शहर का दर्जा दिया जाता रहा जो बस 'खोजी नज़रों' के इंतज़ार में है), प्लाज़ा और ओरियन आदि नामों से यात्रा और गतिशीलता का संकेत मिलता है और ये एक जगह से दूसरी जगह पहुँच जाने, स्थानीय और रोज़मर्रा की क़ैद से बाहर निकल जाने का अहसास कराते हैं जोकि सिनेमाई पलायनवाद की ख़ासियत है। कानो में सिर्फ़ एक सिनेमाघर ऐसा है जिसका नाम स्थानीय है। वापा नामक इस सिनेमाघर का नाम उस जगह के नाम पर ही रखा गया है जहाँ वह स्थित है।

शहरी कानो का विकास

कानो के शहरी इलाक़े में सिनेमाघर जिन जगहों पर बनाए गए वहाँ पहले से ही तीव्र तनाव व टकराव मौजूद थे। यह तनाव 1903 में उस समय शुरू हुए जब अपनी फ़तह के बाद अंग्रेज़ों ने कानो की कच्ची दीवार के बाहर एक आधुनिक शहर बसाना शुरू किया। अंग्रेज़ों ने कानो को प्रशासकीय और प्रतीकात्मक, दो दायरों में बाँट दिया। एक तरफ़ चारदीवारी में घिरा 'बिरनी' (पुराना शहर) था और दूसरा एक बाक़ायदा आधुनिक लघु नगर। पुराने शहर में अमीर का राजनीतिक शासन चलता था। वहाँ कुर्मी बाज़ार के आसपास रहने वाले व्यापारिक परिवारों का आर्थिक महत्व साफ़ दिखाई देता था। औपनिवेशिक शासन के पहले तक सहारा के आर-पार होने वाले व्यापार में कुर्मी बाज़ार एक महत्वपूर्ण केंद्र हुआ करता था। पुराने शहर में ब्रिटिश शासन से पहले के रीति-रिवाज अभी भी यथावत थे। अप्रत्यक्ष शासन सिद्धांत के तहत औपनिवेशिक बदलावों से उसकी हिफ़ाज़त की जाती थी। यहाँ मिशनरियों की गतिविधियों और पश्चिमी शिक्षा पर पाबंदियाँ थी; ज़्यादातर परिवार अभी भी घरेलू अहातों में रहते थे और ये अहाते ख़रीद-फ़रोख़्त की बजाय मौरूसी तरीक़े से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी के हाथों में चले जाते थे।[7] यहाँ महिलाओं को पुरुषों से अलग रखने में कड़ाई बरती जाती थी, वेश्यावृत्ति और शराब की बिक्री प्रतिबंधित थी और रूढ़िवादी इस्लाम की मूल्य-मान्यता सर्वोपरि थी।

यह नया शहर आर्थिक, जातीय एवं सांस्कृतिक, हर लिहाज़ से इस पारंपरिक ढर्रे के बिल्कुल ख़िलाफ़ जाता था। यह शहर कई अलग-अलग इलाक़ों में बँटा हुआ था। एक व्यावसायिक इलाक़ा था, एक अन्य इलाक़े में सीरियाई और लेबनानियों के लिए 'एशियाई' क्वार्टर थे, नाइजीरिया के ग़ैर-हौसा निवासियों के लिए साबोन गारी का इलाक़ा था। एक इलाक़ा यूरोपियनों के रहन-सहन के लिए निर्धारित था। जब कानो औपनिवेशिक शासन के तहत आ गया तो पुराने शहर में तरक़्क़ी की रफ़्तार बहुत धीमी रही जबकि नये शहर में काफ़ी तेज़। इसी काल में यहाँ नए बैंक, कंपनियाँ और नए-नए व्यवसाय खुलने लगे जिन्होंने उत्तरी नाइजीरिया को व्यापक पूँजीवादी विश्व अर्थव्यवस्था से जोड़ दिया। अंततः यह इलाक़ा कानो की अर्थव्यवस्था का इंजन बन गया। मज़दूरों के लिए फ़ैक्ट्रियों और व्यवसायों के साथ-साथ यहाँ मौज-मस्ती के नए तरीक़े और साधन भी गढ़े गए। यूरोपियनों के लिए जेंटलमेन्स क्लब और रेस्त्राँ थे जबकि अफ़्रीकी मज़दूरों के लिए बीयर पार्लर और नाचघर थे।

नए शहर के उदय से कानो में अधिरचनागत, वास्तुशिल्पीय और प्रतीकात्मक विभाजन गहराने लगा। पुराने शहर में मिट्टी के मकानों पर लाल और भूरे गेरू की पुताई जी.आर.ए. (आवासीय युरोपीय बस्ती) की लक़दक़ हरियाली और साबोन गारी की जल्दबाज़ी में बनाई गई बैरकों के सामने फीकी पड़ने लगी। पुराने शहर में संकरी, घुमावदार, कच्ची गलियाँ होती थीं जबकि जी.आर.ए. को ऐबेनीज़र हॉवर्ड की गार्डन सिटी की तर्ज़ पर बनाया गया था। अर्द्धचंद्र और सितारों जैसे चौराहे, विशाल हवादार मकान और सड़कों की बगल में बड़े-बड़े हरे बग़ीचे

इस शहर को एक नई आभा प्रदान करते थे (फ़्रिशमैन, 1977)। यहाँ भी साबोन गारी की स्थिति भिन्न थी। औपनिवेशिक व्यवस्था में अपनी उपयोगितावादी हैसियत को प्रतिबिंबित करते हुए यह बस्ती एक ग्रिड व्यवस्था पर आधारित थी। वहाँ कई-कई युवा पुरुष प्रवासी मिलकर कमरा किराए पर लेते थे। युरोपीय इलाक़े का खुलापन अफ़्रीकी इलाक़े की भीड़भाड़ के सामने बिलकुल अलग दिखाई देता था और 440 गज़ के मध्यवर्ती ज़ोन के ज़रिए इन दोनों इलाक़ों को एक-दूसरे से बिल्कुल काट दिया गया था।[8] शारीरिक संक्रमण के डर से निजात पाने के लिए क़ानून बनाया गया कि घरेलू नौकरों के अलावा और कोई भी अफ़्रीकी रात में युरोपीय इलाक़े में नहीं पाया जाएगा।

बदनाम बस्ती

1975 में एक हौसा विद्वान इब्राहिम ताहिर ने साबोन गारी के बारे में अपनी राय दी थी। उन्होंने लिखा कि यह इलाक़ा —

> अजनबियों को एक-दूसरे के नज़दीक लाने का ज़रिया था। यहाँ नाइजीरियाई और विदेशी ईसाई, युरोपीय ईसाई, नसारा या नाज़रीन, शहरी घुमक्कड़ों, दिहाड़ी मज़दूरों, वेश्याओं और औरतों के दलालों को एक-दूसरे के साथ घुलने-मिलने का मौक़ा मिलता है। यहाँ गिरजाघर, शराबघर और नाचघर के साथ-साथ होटल और वेश्यालय भी हैं (ताहिर, 1975: 110)।

ताहिर की राय कानो में रहने वाले एक अंग्रेज़ द्वारा 1926 में दी गई राय से बहुत अलग नहीं थी। उस अंग्रेज़ ने भी साबोन गारी को 'लम्पट तत्त्वों' से भरी 'एक बदनाम बस्ती' बताया था।[9] कानो के हौसा लोगों की नज़र में साबोन गारी मान्य सामाजिक संबंधों के उल्लंघन का प्रतीक बन चुका है। यह औपनिवेशिक उद्यम के तहत बनाया गया एक 'अन्य स्थान' है, जिसके ख़िलाफ़ हौसा के मुस्लिम रीति-रिवाज अपनी ख़ास शक्ल और परिभाषा अख़्तियार कर सकते हैं।

साबोन गारी का निर्माण 1912 में किया गया। यह बस्ती लॉर्ड लुगार्ड के अप्रत्यक्ष शासन सिद्धांत की राजनीतिक आवश्यकता को पूरा करती थी। राजनीतिक मातहती के बदले में अंग्रेज़ों ने आश्वासन दिया कि वह हौसा समुदाय की राजनीतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक संरचनाओं की हिफ़ाज़त करेंगे और उन्हें बाहरी, ख़ासतौर से पश्चिमीकरण के प्रभावों से बचाकर रखेंगे (लुगार्ड, 1922)।[10] दक्षिण के लोगों को अनिवार्य माना गया क्योंकि वे 'उपनिवेशवादियों की भाषा में बात करना, उसे पढ़ना-लिखना जानते थे' (उबाह, 1982: 54)। इससे अंग्रेज़ों के लिए उनकी उपयोगिता तो साबित होती थी मगर इस आधुनिक आबादी के सांस्कृतिक प्रभावों के बारे में अंग्रेज़ भी उतने ही सशंकित थे जितना कि हौसा लोग।

अंग्रेज़ी बोलने के अलावा दक्षिण के लोग युरोपीय कपड़े भी पहनते थे, पश्चिमी शिक्षा को ऊँची नज़र से देखते थे और उनमें से ज़्यादातर ईसाई थे। क्योंकि साबोन गारी में शराब के ख़िलाफ़ कोई धार्मिक प्रतिबंध नहीं था और वहाँ पुरुष प्रवासियों का वर्चस्व (शुरू में) था इसलिए शराब ख़रीदने के लिए यह इलाक़ा पूरे शहर में प्रसिद्ध हो गया और यह बस्ती अपने नाचघरों, मधुशालाओं और वेश्यावृत्ति के लिए जानी जाने लगी।

अफ़्रीकियों के बीच पृथकता को हौसा की धार्मिक एवं प्रशासनिक मूल्य-मान्यताओं के संरक्षण का सर्वश्रेष्ठ तरीक़ा माना गया। इसके लिए ऐसी सामाजिक एवं जातीय परिधियाँ निर्धारित की गईं जहाँ हौसा लोग दाख़िल नहीं हो सकते थे। जैसा कि एलीन कहते हैं : 'इस प्रकार के नियंत्रण के फलस्वरूप... बाहर से आए लोग सरकार और युरोपीय फ़र्मों को ज़रूरी सेवाएँ तो उपलब्ध कराएँगे मगर इससे उनके हौसाभाषी पड़ोसियों की अत्यंत सम्मानित (अंग्रेज़ों की नज़र में) संस्कृति के भ्रष्ट होने की संभावना बेहद सीमित हो जाएगी'[11] (एलीन, 1976: 87)। प्रशासकीय स्तर पर साबोन गारी को स्थानीय ब्रिटिश शासन और वैधानिक अधिकारक्षेत्र में रखा गया और उसे सांस्कृतिक, धार्मिक एवं राजनीतिक रूप से पड़ोसी इलाक़ों से अलग रखने की कोशिश की गई। हौसा लोग दक्षिण के लोगों को अपनी संस्कृति से कट चुके 'काले यूरोपियनों' की मानिंद देखते थे जबकि दक्षिण के लोग रियायत भरी कृपालुता से देखते हुए हौसा समाज को एक पिछड़े और परंपरागत समाज की श्रेणी में रखते थे। उत्तर में

दक्षिण के लोगों की हाशिए की मौजूदगी 'स्थानीय विदेशी' और 'अजनबी देशी' के परस्पर अंतर्विरोधी भावों से और क्षीण हो जाती थी। साबोन गारी के लोगों को आधिकारिक रूप से 'अजनबी देशी' ही कहा जाता था।[12]

कुल मिलाकर इस राजनीतिक ताने-बाने में ही सिनेमाघरों की शक्ल-सूरत और जगह का नक़्शा बनता है। यहाँ के सिनेमाघर उस समय भी और अभी भी, मुख्य रूप से पुराने शहर के बाहर नए पश्चिमोन्मुखी इलाक़ों में स्थित हैं। दिलचस्प बात यह है कि कानो के तक़रीबन सारे सिनेमाघर जातीय आबादी के सीमावर्ती बाज़ारों के आसपास ही स्थित हैं। ये बाज़ार आमतौर पर कानो के एक हिस्से को दूसरे हिस्से से अलग करने वाली औपचारिक सीमारेखा के रूप में काम करते हैं। कानो का पहला सिनेमाघर, रेक्स (जो अब टूट चुका है), साबोन गारी बाज़ार की बग़ल में ही बनाया गया था। इस प्रकार यह सिनेमाघर साबोन गारी के दक्षिणी नाइजीरियनों, फ़ागे में रहने वाले अरबों एवं ग़ैर-हौसा उत्तरी नाइजीरियनों और युरोपीय औद्योगिक-व्यावसायिक ज़िले बोम्पाई में रहने वाले यूरोपियनों — तीनों के बीचोंबीच स्थित था। इसी तरह ओरियन और प्लाज़ा सिनेमाघर भी पुराने शहर के फाटक के ठीक बाहर बनाए गए थे। उनमें से एक कोफ़र वम्बाई बाज़ार के नज़दीक था जबकि दूसरा पुराने शहर और फ़ागे के बीच की चारदीवारी की बग़ल में कानटिन क्वारी बाज़ार के पास बनाया गया था। एल डोराडो साबोन गारी के एक छोर पर स्थित था। यह सिनेमाघर साबोन गारी और बोम्पाई के बीच सीमारेखा का काम करता था। इसके तक़रीबन एक मील उत्तर में क्वींस सिनेमाघर था। अल दुनिया (जो अब टूट चुका है) सिनेमाघर भी साबोन गारी बाज़ार के पास ही स्थित था। यह सिनेमाघर इस बस्ती को फ़ागे से और फ़ागे को व्यावसायिक केन्द्र से अलग करता था। यानी, सिनेमाघर भौतिक रूप से उपेक्षित और परस्पर अतिक्रमण की संभावना वाले स्थानों पर बनाए जा रहे थे। ये सिनेमाघर हौसा इलाक़ों के नज़दीक तो थे ताकि मुस्लिम दर्शक भी उनमें जा सकें मगर सिनेमा के भीतर उन्हें औरों से अलग रखा जाता था और समय बीतने के साथ सिनेमाघरों की अवैध हैसियत भी औपनिवेशिक (तथा उत्तर-औपनिवेशिक) कानो में धार्मिक, नस्ली एवं सांस्कृतिक पृथक्करण को बढ़ावा देने का ज़रिया बन गई।

सिनेमाई परिवेश की नैतिक आभा

कानो के सिनेमाघर अपने जन्मकाल से ही अपने इलाक़े के नैतिक परिवेश से लदे हुए थे। इनमें से ज़्यादातर सिनेमाघर साबोन गारी और फ़ागे में स्थित थे। फ़िल्मों का शुरुआती प्रदर्शन साबोन गारी में हुआ। उस वक़्त इसके लिए कोई निश्चित जगह तय नहीं थी। कई बार ये फ़िल्में एलज़ीयेट जैसे नाचघरों में दिखाई जाती थीं जहाँ फ़िल्म के साथ-साथ नाच-गाने और पुरस्कार वितरण के कार्यक्रम भी चलते रहते थे।[13] इसके बावजूद, 1934 तक आते-आते यहाँ भी सिनेमा इतना लोकप्रिय ज़रूर हो चुका था कि कानो के ब्रिटिश निवासियों के मुताबिक़ वहाँ 'काफ़ी नियमित रूप से' फ़िल्में दिखाई जाने लगी थीं (नाइजीरियाई राष्ट्रीय अभिलेखागार, 1934) और इसके सिर्फ़ 20 साल बाद पहला सोद्देश्य सिनेमा, रेक्स, अस्तित्व में आ गया। साबोन गारी बाज़ार से सटे बिना छत वाले रेक्स सिनेमा में हर हफ़्ते चार फ़िल्में दिखाई जाती थीं। शुरुआत में फ़िल्मों के प्रदर्शन को अनौपचारिक रूप से नस्ली आधार पर बाँटा गया था — दो रातें ग़ैर-अफ़्रीकी (युरोपीय और सीरियाई) दर्शकों के लिए और दो रातें अफ़्रीकी दर्शकों के लिए आरक्षित रखी गई थीं। सिनेमाघर में एक गार्डन बार भी खोला गया और शुरू के दिनों में वहाँ शराब भी पिलायी जाती थी। परंतु ब्रिटिश अधिकारी इस बात का कोई रास्ता नहीं निकाल पा रहे थे कि अब अफ़्रीकियों के बीच शराब की बिक्री पर रोक लगाने और यूरोपियनों को शराब की छूट देने के लिए क्या तरीक़ा अपनाया जाए (नाइजीरियाई राष्ट्रीय अभिलेखागार, 1934)। फलस्वरूप, आख़िरकार सिनेमाघरों में शराब की बिक्री पर औपचारिक रूप से प्रतिबंध लगा दिया गया और यह क़ानून आज तक क़ायम है।

रेक्स सिनेमा साबोन गारी के हाशिए पर स्थित था। इसका मतलब है कि यह सिनेमाघर एक ऐसे इलाक़े में पड़ता था जो हौसा-मुसलमान समुदाय की नज़र में तमाम सांस्कृतिक बँधनों से आज़ाद था। इस बात के बावजूद या संभवतः इसी वजह से हौसा के युवकों में सिनेमा तेज़ी से लोकप्रिय होने लगा और चालीस के दशक के मध्य तक आते-आते सिनेमा जाने को एक सस्ते, निर्धन-सुलभ मनोरंजन के रूप में देखा जाने लगा था। यह एक

ऐसी चीज़ बन गई जो इज़्ज़तदार लोगों की हैसियत के लिए मुफ़ीद नहीं थी। पचास के दशक की शुरुआत में एक औपनिवेशिक अधिकारी ने लिखा कि 'स्थानीय नज़रिया कुछ इस तरह है : बुद्धिमान और पढ़े-लिखे मालम (मुस्लिम धार्मिक शिक्षक) वहाँ जाते ही नहीं... वह हौसा के उन निचले दर्जे के लोगों को भी पसंद नहीं करते जो सिनेमा का शौक रखते हैं...' (कानो राज्य इतिहास एवं संस्कृति ब्यूरो (एचसीबी); 1954)। सिनेमाघर में निम्नवर्गीय लोगों व स्त्री-पुरुष दोनों की उपस्थिति के चलते उन्हें अधिकांश हौसा महिलाओं के लिए सामाजिक तौर पर अनुपयुक्त माना जाता था। जो औरतें सिनेमा में जाती थीं उन्हें कारूवाई ('स्वतंत्र औरतें/वेश्याएँ') माना जाने लगा। सिनेमाघर में उनकी मौजूदगी इस दायरे के कथित नाजायज़ चरित्र में इज़ाफ़ा करती थी। सिनेमा के भीतर यौन उपलब्धता और यौन गतिविधियों का मतलब था कि वहाँ स्क्रीन के ऊपर और स्क्रीन के बाहर, दोनों तरफ़ आनंद और कामनाएँ थीं, एक संदर्भ का कामुक आनंद दूसरे संदर्भ में कामुक आनंद को सहला रहा था।

कुल मिलाकर सिनेमा जाना एक बाक़ायदा सामाजिक गतिविधि बन गया। यह एक ऐसा अनुभव था जो ख़ुद फ़िल्म देखने से कहीं बढ़कर था। कानो के रेज़ीडेंट फ़ेदरस्टोन ने 1948 में कहा कि 'कानो शहर, फ़ागे और साबोन गारी के ज़्यादातर युवा वर्ग में सिनेमा जाना अब एक आम चीज़ हो गई है भले ही वह इसको समझ पाते हों या नहीं, और सिनेमा के संवाद उन्हें सुनाई पड़ते हों अथवा नहीं' (कानो राज्य इतिहास एवं संस्कृति ब्यूरो (एचसीबी); कानो के रेज़ीडेंट ई. के. फ़ेदरस्टोन, 1948)। फ़ेदरस्टोन के इस बुज़ुर्गाना एतराज़ से यह पता नहीं चल पाता कि उस ज़माने में सिनेमा जाना किस अहमियत की सामाजिक और चाक्षुष घटना बन चुकी थी। एक दर्शक ने फ़ेदरस्टोन को बताया कि हालाँकि बहुत बार उसे दिखाई जा रही फ़िल्म बिलकुल समझ में नहीं आती मगर वह फिर भी सिर्फ़ 'इसलिए सिनेमा जाता है ताकि लोग उसे सिनेमा जाते हुए देखें और वहाँ वह अपने यार-दोस्तों से मिल सके।' यह सामाजिक गतिविधि एक ख़ास सामाजिक परिधि में घट रही थी। यह सामाजिक परिधि एक शहरी भूदृश्य पर रूपांतरण की प्रक्रिया में अपने सामाजिक और नैतिक स्थान से अपना नैतिक आभामंडल ग्रहण कर रही थी। चालीस के दशक में नियमित रूप से सिनेमा जाने वाले एक पढ़े-लिखे हौसा के व्यक्ति ने मुझे बताया कि सिनेमा जाने का मतलब यह था कि लोग पुराने शहर की सुरक्षित नैतिक चौहद्दी से बाहर निकल कर एक अनैतिक दायरे (साबोन गारी) में दाखिल हो जाते थे। वह आदमी जान-बूझकर ऐसा करता था और उसके इस रवैये की जड़ में हौसा सत्ता और इस्लामिक कट्टरपंथ के ख़िलाफ़ एक रेडिकल प्रतिक्रिया जैसी थी। कट्टरपंथी हौसा समुदाय इस्लाम की मूल्य-मान्यताओं के हिसाब से सिनेमा जाने को एक ख़राब बात मानता था इसलिए इस पूरे कृत्य का आनंद बेहद स्थानीय था। यह नैतिक व्यवस्था के उल्लंघन का एक ऐसा अंतरंग अनुभव था जो फ़िल्म देखने के इर्द-गिर्द बुना जा रहा था। यह अनुभव हौसा के औपनिवेशिक शहरीकरण के एक ख़ास स्वरूप से जन्म ले रहा था।

हौसा समाज की मुख्यधारा ने इस औपनिवेशिक प्रौद्योगिकी का जिस कौतूहल के साथ स्वागत किया था उसे सिनेमाई तंत्र की ताक़त के बारे में उठने वाले धार्मिक सवालों ने और भी बढ़ा दिया। बरकिंडो (1993) के शब्दों में, रूढ़िवादी इस्लामिक शिक्षकों के 'निष्क्रिय प्रतिरोध' पर अंग्रेज़ों की औपनिवेशिक फ़तह के शुरुआती दिनों से ही स्थानीय समाज में औपनिवेशिक शासकों द्वारा लाई जा रही नई-नई वस्तुओं के ख़िलाफ़ विरोध सघन रूप लेने लगा था। हिस्केट (1984) बताते हैं कि बड़े-बूढ़े मुसलमान ऐसे मुसलमानों को नर्क की आग में जाने की बद्दुआ दिया करते थे जो हरिकेन लैंप, टॉर्च या कपड़े में क़लफ़ आदि का प्रयोग करते थे या अपनी क़मीज़ों पर बटन टाँकते थे। पहले औपनिवेशिक सेंसर बोर्ड में काम कर चुके नसीरू कबारा की गिनती कानो के असरदार शेख़ों में की जाती थी। उन्होंने मुझे बताया कि 'स्थानीय मालम' (जिससे उनका आशय थोड़े बहुत पढ़े-लिखे, मोहल्ला छाप इस्लामिक शिक्षकों से था) इसलिए सिनेमा को बुरा मानते थे क्योंकि वे यह तय नहीं कर पा रहे थे कि स्क्रीन पर दिखाई जा रही तस्वीरें असली हैं या नक़ली। उनकी नज़र में बात सिर्फ़ इतनी थी कि अगर फ़िल्म में किसी की हत्या हुई है तो हो सकता है कि वह व्यक्ति सचमुच मारा गया हो। अगर ऐसा नहीं था तो यह उनके लिए जादू था और क्योंकि इस्लाम जादू के ख़िलाफ़ है इसलिए फ़िल्म को भी हराम माना जाता था (शेख़ नसीरू कबारा, 1995)। बहुत सारे लोगों को यह भी लगता था कि सिनेमाई चलचित्र तस्वीरों और मूर्तियों पर लगाए गए इस्लामिक निषेध का उल्लंघन करते हैं।[14]

कबारा की नज़र में सिनेमा की इस तर्कसंगत तकनीक के कथित ईशनिंदक और जादुई स्वरूप पर यह धार्मिक आग्रह दुनिया भर में, ख़ासतौर से इस्लाम में, व्याप्त अज्ञानता की ओर इशारा करता है। परंतु हौसा के शुरुआती सिनेमाघरों के नामों से पता चलता है कि सिनेमा को मायाजाल मानने का अहसास कितना लोकप्रिय था। सिनेमाघर के लिए सबसे पहले प्रयुक्त हौसा शब्द था मैजिगी — जो 'मैजिक' या जादू से ही निकलता है। उसी तरह एक सिनेमा हॉल का तो नाम ही था डोडोन बैंगो — यानी 'दीवार पर पसरी शैतानी आत्माएँ।' इन नामों से ज़ाहिर है सिनेमा से लोग कितने अभिभूत और आकर्षित थे। उनकी इस प्रतिक्रिया में बोध की कई गहरी प्रतीकात्मक परतें दर्ज थीं — जिन्हें ईसाइयत, ईसाइयत-पूर्व लोक-धर्म और उपनिवेशवाद के संदर्भ में ही समझा जा सकता है।

औपनिवेशिक कानो की दुनिया में सिनेमा जाना हौसा दर्शकों के लिए एक विद्रोही कृत्य था। यह एक ऐसा मनोरंजन था जिसमें युरोपीय और अफ़्रीकी, दोनों लोग शरीक थे। और इस तथ्य पर युरोपीय और हौसा, दोनों ही समुदाय के लोग ख़ुश भी होते थे और नाराज़ भी। फ़िल्म का प्रदर्शन सामान्य औपनिवेशिक शैली में अलग-अलग दर्शकों के बीच बँटा हुआ था परंतु युरोपियनों के लिए निर्धारित प्रदर्शन से अगले दिन अफ़्रीकी दर्शक भी उसी जगह उसी फ़िल्म को देखने के लिए टूट पड़ते थे। इस तरह अफ़्रीकी भी एक ऐसे आनंद का मज़ा ले रहे थे जो बुनियादी तौर पर केवल युरोपीय दर्शकों को ध्यान में रखकर रचा गया था। यह बात औपनिवेशिक क्लबों और खेल कार्यक्रमों से बिलकुल अलग थी क्योंकि उनमें अफ़्रीकियों को बेदख़ल रखा गया है। हौसा में सिनेमा को बारीकी संस्कृति के हिस्से के तौर पर भी परिभाषित किया जाने लगा। इसकांसी या लम्पटता इस संस्कृति की विशेषता थी। बारीकी शब्द की उत्पत्ति अंग्रेज़ी के बैरक शब्द से हुई है और इसका आशय प्रेतात्मा के आने (बोरी), पुरुष एवं स्त्री वेश्यावृत्ति तथा नाच-गाने और शराबख़ोरी से है। असल में इस तरह की गतिविधियाँ उत्तर की तरफ़ आने वाले युवा प्रवासी मज़दूरों के लिए बनाए गए बैरकों से वाबस्ता थीं और क्रमशः उन्होंने एक विद्रोही सांस्कृतिक रूप को जन्म दिया।

कानो में सिनेमाघरों के उदय के स्थानिक एवं सामाजिक संदर्भ ने वहाँ एक अवैध आभामंडल पैदा कर दिया जो युरोपीय तकनीकी के प्रति रूढ़िवादी हौसा अविश्वास के साथ सहज और स्वाभाविक दिखाई देता था।

पैलेस, अल दुनिया और हौसा के नैतिक परिवेश की सुरक्षा

कानो में सिनेमाघरों की शुरुआत ने उपनिवेशवाद के अंतर्गत शहरी 'स्पेस' की नैतिक परिभाषा पर पहले से ही चल रहे टकरावों को और हवा दी।[15] सिनेमाघरों को किस तरह बनाया जाए, वहाँ क्या दिखाया जाए, वहाँ शराब की बिक्री सही है या ग़लत — ये सभी मुद्दे औपचारिक क़ायदे-क़ानून के ऐसे विषय थे जिनके ज़रिए उपनिवेशवाद की परिवर्तनकारी भौगोलिक एवं सामाजिक विचारधाराएँ सूत्रबद्ध होती थीं। हौसा समुदाय में इस बात को लेकर भी विवाद था कि सिनेमाघर कहाँ बनाए जाएँ और किन लोगों को सिनेमाघरों में जाने की छूट दी जाए। इस टकराव का सबसे अच्छा साक्ष्य तेज़ी से हौसा समुदाय के नियंत्रण से बाहर निकलते जा रहे शहरी दायरे के नैतिक पुनर्सीमांकन की कोशिशों में दिखाई देता है। अर्जुन अप्पादुरई (अप्पादुरई, 1996) ने इस प्रक्रिया को 'बस्ती (लोकैलिटी) के उत्पादन' की संज्ञा दी है। उनके हिसाब से इस प्रक्रिया के तहत सामाजिक रूप से संगठित सत्ताएँ ऐसी जगहों पर दावेदारी प्रस्तुत करती दिखाई देती हैं, जहाँ की स्थिति में अराजकता की संभावना हो। सिनेमा को एक स्वरूप प्रदान करने की कोशिश असल में ग़ैर-मुस्लिम (युरोपीय एवं दक्षिणी नाइजीरियाई) संस्कृति एवं धार्मिक मूल्यों द्वारा अतिक्रमण के विरुद्ध हौसा जीवन के मुस्लिम आधार को मज़बूती प्रदान करने में निहित थी। सिनेमाघर मोहल्लों की पहचान बन गए और उनमें वह नैतिक गुण-अवगुण भी निहित माने जाने लगे जो उन मोहल्लों को मौजूदगी को औचित्य देते थे। शहरी हौसाओं के लिए सिनेमाई अनुभव शहरी सार्वजनिक 'स्पेस' के स्वरूप व नियमन पर चल रही बहसों के इतिहास में गुँथा हुआ था (और है)।

1949 में एक लेबनानी सिनेमा डिस्ट्रीब्यूटर ने कानो अमीरात के रेज़ीडेंट को चिट्ठी लिखकर पैलेस सिनेमा के निर्माण की इजाज़त मांगी। उसका प्रस्ताव था कि इस सिनेमाघर को पुराने शहर के कुर्मी बाज़ार के पास जकारा के क्वार्टरों में बनाया जाए। जिस समय पैलेस के लिए यह आवेदन दिया गया तब तक कानो में सिनेमा जाना एक स्थापित गतिविधि बन चुका था। हौसा समुदाय के बहुत सारे लोग नियमित रूप से पुराने शहर से निकलकर

वाजे में स्थित दोनों सिनेमाघरों में से किसी एक की शरण में पहुँच जाते थे। बहरहाल, उपरोक्त आवेदन का अनूठापन इस बात में था कि उसमें पहली बार पुराने शहर के भीतर कोई सिनेमाघर बनाने की इजाज़त माँगी जा रही थी। कडुना के औपनिवेशिक अभिलेखागार में इस आवेदन की प्रतियाँ मौजूद हैं और वहीं से इस बात का भी पता चलता है कि पैलेस सिनेमा कब शुरू हुआ। मगर मैं पैलेस की जिस कहानी से उलझ रहा हूँ वह अफ़वाहों और पूर्वाग्रहों पर आधारित है। यह कहानी ऐसे क़िस्सों और स्मृतियों पर आधारित है जो पैलेस के वस्तुगत इतिहास की नहीं बल्कि सामाजिक कल्पना में उस सामाजिक परिवेश की ज़्यादा जानकारी देते हैं जिसमें ये सिनेमाघर अस्तित्व ग्रहण कर रहे थे। सिनेमाघरों से जुड़ी अफ़वाहें, उनके बारे में माँ-बाप से बच्चों को मिले क़िस्से-कहानियाँ स्थानीय शब्दावली का एक अहम हिस्सा हैं। ये कुछ ऐसे अर्ध-धार्मिक रूपक हैं जिनके ज़रिए लोग भौतिक घटनाओं के तले स्थित 'वास्तविक' उद्देश्यों की दैवी शिनाख़्त करते हैं।

जब कानो के अमीर ने पैलेस सिनेमा के निर्माण की इजाज़त दे दी तो हौसा समुदाय के कई तबक़ों में इस फ़ैसले की तीखी प्रतिक्रिया हुई। कानो के उलेमा पुराने शहर के इस्लामी परिवेश में इस विध्वंसक, यौन गतिविधि के दख़ल पर आग-बबूला हो उठे। ज़्यादा कट्टरवादी उलेमाओं ने तो पुराने शहर में फ़िल्मों के प्रदर्शन के ख़िलाफ़ फ़तवा जारी कर दिया और तस्वीरों के बारे में धार्मिक सूक्तियों के सहारे उन्होंने यह साबित करने की कोशिश की कि यह तकनीक काफ़िराई (कुफ़्र) की निशानी है। मुझे जो कहानियाँ बताई गई हैं उनके मुताबिक़ जब यह फ़तवा अमीर के मंत्रिमंडल के सामने आया तो उसे ख़ारिज कर दिया गया हालाँकि कानो के तत्कालीन अमीर, अब्दुलाही को सामाजिक रूप से काफ़ी रुढ़िवादी माना जाता था। अब्दुलाही के इस नए फ़ैसले से अफ़वाहों का एक और सैलाब आ गया। इनमें से एक अफ़वाह यह थी कि अब्दुलाही ने ब्रिटिश रेज़ीडेंट के दबाव में मजबूरन ये फ़ैसला लिया है (अदामु, 1996)।

1951 में जब पैलेस को लेकर विवाद चल ही रहा था और अभी यह सिनेमाघर चालू भी हुआ नहीं था, तभी यह पूरा मामला अचानक गर्म हो गया। अल दुनिया सिनेमाघर में आग लगने से वहाँ मौजूद 600 में से 331 दर्शक मारे गए।[16] इस अग्निकांड के बाद सरकार ने एक जाँच आयोग बिठाया जिसने निष्कर्ष दिया कि यह फ़िल्म ज्वलनशील नाइट्रेट फ़िल्म के कारण लगी थी। जब प्रोजेक्शन कक्ष में फ़िल्म ने आग पकड़ ली तो आग तेज़ी से छत के ज़रिए पूरे सिनेमाघर में फैल गई और नतीजतन इतने लोग मारे गए। इस दुर्घटना के लिए हौसा समुदाय के लोगों को ज़िम्मेदार बताया जाने लगा। जब यह आग लगी उस समय फ़िल्म देखने वाले दर्शकों में से 82 प्रतिशत हौसा समुदाय (न कि दक्षिणी नाइजीरियाई युरोपीय) के थे। इनमें से सबसे कम उम्र का दर्शक केवल 9 साल का था।

औपनिवेशिक राज्य ने दुर्घटना की जो कैफ़ियत दी उसमें हौसा समुदाय को यह दुर्घटना कैसे हुई, इसका जवाब तो मिला पर वे इसे 'यह क्यों हुई' की तार्किक व्याख्या मानने को तैयार नहीं थे। पैलेस सिनेमा को लेकर उठ रहे विवाद के प्रसंग में बहुत सारे लोग यह मानने लगे कि यह अग्निकांड अवैध और अनैतिक गतिविधियों में हौसा समुदाय के लोगों की शिरकत का एक दैवी दंड था। इस त्रासदी को हौसा समाज के बढ़ते पश्चिमीकरण के नतीजे में ईश्वरीय प्रकोप के रूप में देखा जाने लगा। नतीजतन, इस घटना की व्याख्या करने वाली कई और अफवाहें पैदा हो गईं। इनमें सबसे व्यापक और अभी भी बड़े पैमाने पर स्वीकृत अफ़वाह यह थी कि अल दुनिया में उस रात जो फ़िल्म दिखाई जा रही थी उसमें पैग़ंबर मोहम्मद की तस्वीर भी शामिल थी। इसका मतलब था कि औपनिवेशिक तकनीक ईशनिंदा को बढ़ावा दे रही है। कई दूसरे लोगों का मानना था कि थियेटर के निर्माण के समय उसके आसपास से गुज़रने वाले लोग उस सिनेमा को बद्दुआएँ देते थे और सिनेमाघर के जलने में इन बद्दुआओं की क्रोधाग्नि का भी असर ज़रूर है।[17]

कानो जैसे धार्मिक समाज में, जहाँ भौतिक जगत में ईश्वर के अलौकिक हस्तक्षेप की बातें एक सामान्य घटना हैं, वहाँ अफ़वाहें और क़िस्से-कहानियों का भी दैनंदिन घटनाओं की पड़ताल के आलोचनात्मक विमर्श का हिस्सा बन जाना लाज़िमी था। अल दुनिया के इर्द-गिर्द केंद्रित कहानियाँ हौसा की नैतिक दुनिया में दाख़िल होते जा रहे पश्चिमी सांस्कृतिक परिवेश के प्रति टकराव और दुविधा के बारे में बताती हैं। इन कहानियों में सिनेमाई निरूपण का नायक चरित्र व्यक्त होता है, और उसे पैग़म्बर मोहम्मद के चित्रांकन के धर्मद्रोह का गुनहगार माना

गया। धीरे-धीरे ये अफवाहें इतनी व्यापक हो गईं कि औपनिवेशिक सरकार को आधिकारिक रूप से उन पर ध्यान देना पड़ा। सरकार ने रेडियो पर इन अफ़वाहों के खंडन किए। दो दिन तक चार अलग-अलग भाषाओं में रोज़ाना दो बार रेडियो डिफ़्यूज़न सर्विस के ज़रिए इस बात का ऐलान किया गया कि इस बात में कोई सच्चाई नहीं है कि अल दुनिया में मारे गए लोगों के शवों को उठाने वाले मौत के मुँह में जा चुके हैं, या कि जिन स्थानीय अधिकारियों ने इस दुर्घटना के समय लोगों की मदद की थी वह पागल हो चुके हैं, या कि कानो की जेल के क़ैदी (जिन्होंने शवों को निकालने में मदद की थी) कई दिनों तक खाना नहीं खा पाए थे। कुल मिलाकर अल दुनिया के बारे में प्रचलित कहानियाँ उस अनौपचारिक नैतिक अर्थव्यवस्था का हिस्सा बन गईं जिसने कानो में सिनेमा के उदय को नियंत्रित किया था।

बहरहाल, महीनों के विवाद के बाद आख़िरकार पैलेस सिनेमा चालू तो हो गया मगर उसकी मुख़ालिफ़त जारी रही। जब इस सिनेमाघर का विरोध हिंसक रूप लेने लगा तो अमीर को मजबूरन पुलिस बुलानी पड़ी और सिनेमाघर के उद्घाटन का विरोध कर रहे युवकों को गिरफ़्तार कर लिया गया (अदामू, 1996)। ब्रिटिश पुलिस सुपरिंटेंडेंट ने लिखा है कि पैलेस के खुलने के तीन माह बाद भी शहर के युवक नियमित तौर पर इस सिनेमाघर में आए दर्शकों पर पथराव कर रहे थे। उन्होंने कहा कि इससे भी बुरी बात यह है कि जिस अलकली (मुस्लिम न्यायधीश) को इन मामलों की सुनवाई का ज़िम्मा सौंपा गया वह भी कथित रूप से इन युवाओं की मदद कर रहा है इसलिए सिनेमा में फ़िल्म के प्रदर्शन के दौरान 'व्यवस्था' बनाए रखने में पुलिस को काफ़ी दिक़्क़त पेश आ रही थी। इसे विडंबना कहिए या अपरिहार्यता, पैलेस के विरोधियों का डर हक़ीक़त बन गया — पैलेस सिनेमा एक अनैतिक सामाजिक स्थान बन गया। एक ऐसी बदनाम जगह जहाँ, मेरे एक दोस्त के मुताबिक़, लोग शराब पीते थे, नशीली दवाइयाँ लेते थे और औरतों व दूसरे पुरुषों के साथ सेक्स करते थे ('वहीं! वहीं! तुमसे बिलकुल बग़ल वाली सीट पर ही!')। अस्सी के दशक की शुरुआत में पुराने कानो शहर के निवासी और पैलेस विरोधी मुहिम के एक वयोवृद्ध नेता साबो बाकिन जुवो कानो के गवर्नर बने और उन्होंने इस सिनेमाघर को बंद कर दिया। उन्होंने एक भव्य लोकलुभावन भंगिमा अख़्तियार करते हुए उसे एक अस्पताल में रूपांतरित कर दिया। इसके बाद से आज तक पुराने शहर में कोई सिनेमाघर नहीं खुल पाया है।[18] आज भी सिनेमा के शौक़ीन सैंकड़ों हौसा युवक शहर की सरहद पर बने मिट्टी के फाटकों से गुज़रकर रात में साबोन गारी, फ़ागे और नसारावा के सिनेमाघरों में जाते हैं।

पैलेस सिनेमा के निर्माण का विरोध हौसा के मुसलमानों द्वारा कानो के शहरी समाज के नैतिक, भौगोलिक संतुलन को पुनर्स्थापित करने की कोशिशें थीं। जिसे अब तक शहर का दर्जा मिला हुआ था, उस आबादी के बाहर एक महानगरीय आबादी का उदय, पुराने शहर और नए क़स्बे व वाजे के बीच आर्थिक एवं राजनीतिक संतुलन में बदलाव और मौजूदा राजनीतिक संरचनाओं से किसी तरह की हमदर्दी न रखने वाले 'स्थानीय विदेशियों' (जिनमें से कुछ लोग स्थानीय धार्मिक एवं सांस्कृतिक तौर-तरीक़ों का खुलेआम मज़ाक उड़ाते थे) की प्रवासी आबादी में इज़ाफ़े ने एक ऐसी स्थिति पैदा कर दी जहाँ राजनीतिक और सामाजिक परिवेश पर ख़तरे में पड़ते जा रहे हौसा नियंत्रण का आग्रह लगातार महत्वपूर्ण होता जा रहा था। जब एक विदेशी, अनैतिक और मुमकिन तौर पर ग़ैर-धार्मिक संस्था के रूप में पुराने शहर के भीतर पैलेस का निर्माण कर लिया गया तो उसने पुराने शहर और वाजे के बीच पूरी एहतियात के साथ खड़ी की गई सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक विभाजन की दीवार के लिए ख़तरा पैदा कर दिया।

पैलेस के बारे में उठे विवाद के बाद लेबनानी उद्यमियों ने दोबारा पुराने शहर में कोई थियेटर बनाने का हौसला नहीं दिखाया। समझौते की मुद्रा में दो सिनेमाघर शहर की दीवार के ठीक बाहर बनाए गए। इनमें से एक कोफ़र वम्बाई में स्थित ऑरियोन सिनेमा और दूसरा फ़ागे में स्थित प्लाज़ा सिनेमा था। इन सिनेमाघरों का निर्माण इस तथ्य की गवाही देता है कि 1950 के दशक से ही हौसा समुदाय के लोग कानो के सिनेप्रेमी दर्शकों में अपना संख्या बल स्थापित कर चुके थे। हालाँकि हौसा समाज में सिनेमाघरों की नैतिक स्थिति काफ़ी अस्पष्ट सी है और योरूबा या इबो समाज के मुक़ाबले यहाँ सिनेमाघरों की हैसियत ज़्यादा विवादास्पद रही, इसके बावजूद

यहाँ के हौसा युवाओं में सिनेमा के प्रति उत्साह में कोई गिरावट आती दिखाई नहीं देती। मरहबा या प्लाज़ा में जाकर भारतीय फ़िल्में देखने को इबो, लेबनानी और यहाँ तक कि भारतीय मूल के आप्रवासी भी एक हौसाई क़िस्म की सामाजिक गतिविधि के रूप में ही देखते हैं।

निष्कर्ष

कानो के सिनेमाघर अलग-थलग खड़ी इमारतें नहीं बल्कि एक शहरी वातावरण में एकीकृत ऐसे बिंदु हैं जहाँ से उन्हें अपना महत्व हासिल होता है और जिसे वह ख़ुद परिभाषित करते हैं। प्यार और रोमांच के बेमिसाल क़िस्सों की स्क्रीनिंग स्थल के रूप में यहाँ के सिनेमाघर हौसा के दर्शकों के सामने अमेरिकी, भारतीय और ब्रिटिश संस्कृति की कल्पित सच्चाइयाँ पेश करते हैं (देखें लार्किन, 1997)। यहाँ मैंने इस बात पर ज़ोर दिया है कि औपनिवेशिक आधुनिकता में आए बदलावों से जन्मी और उन्हें अभिव्यक्त करने वाली एक व्यापक शहरी भौतिकता के अंग के तौर पर सिनेमाघरों की क्या जगह रही है। उनके सामाजिक महत्व को औपनिवेशिक शासन के तहत पैदा हुई अन्य तकनीकों और सार्वजनिक स्थलों से अलग करके नहीं देखा जा सकता। कानो में सिनेमाघर कानो-लागोस रेलमार्ग के बनने के महज़ बीस साल बाद अस्तित्व में आ गए थे और ये सिनेमाघर उन इलाक़ों में स्थित थे, जिन्हें कानो आने वाले पुरुष प्रवासियों की भीड़ को ध्यान में रखते हुए बसाया गया था। उन्हें नए औपनिवेशिक महानगर की सरहद और उसके नैतिक गुणों को रेखांकित करने वाले नए औपनिवेशिक बाज़ारों की बग़ल में बनाया गया था। ये सिनेमाघर शहरी सार्वजनिक परिधि में आए बदलावों से पैदा हुए यौन एवं जातीय मेलजोल के नए केंद्रों के निर्माण की प्रक्रिया का हिस्सा थे। इन सिनेमाघरों के भौतिक दायरे, उनकी गंदी ईंटों, टूटी रोशनियों और सिनेमाघर को बाँटने वाली दीवारों में हमें औपनिवेशिक शासन और औपनिवेशिक शहरीकरण के इतिहास की छाप साफ़ दिखाई देती है। इस अध्ययन में मेरा मक़सद सिनेमाघरों की पहले से दी हुई उस छवि के पार जाने का है जिस पर सवालों की कोई गुंजाइश दिखाई नहीं देती और जो अंधेरा होने पर, फ़िल्म शुरू होते ही, विश्लेषण की नज़र से ओझल हो जाती है। इसकी बजाय मैंने मीडिया के विकास क्रम में सिनेमाघरों की अहमियत को एक सैद्धांतिक जामा पहनाते हुए ख़ुद सिनेमाघर की भौतिकता का विश्लेषण किया है। मीडिया का यह विकास क्रम तकनीक को उस बृहत्तर सामाजिक परिधि में स्थित करता है जहाँ से उन्हें अर्थ मिलते हैं।

अनुवादः योगेंद्र दत्त

टिप्पणियाँ

यह निबंध 'थियेटर्स ऑफ़ द प्रोफ़ेन : सिनेमा ऐण्ड कॉलोनियल अरबनिज़्म' का एक संशोधित संस्करण है। उपरोक्त लेख *विज़ुअल एंथ्रोपोलॉजी रिव्यू* के उस विशेष सिंपोज़ियम में प्रकाशित हुआ था जिसका इस लेखक ने संपादन किया था (लार्किन, 1999ए; बी)। इस लेख के यहाँ पुनर्प्रकाशन की अनुमति देने के लिए मैं एएए को धन्यवाद देता हूँ। इस निबंध के लिए किए गए अनुसंधान में वेनर-ग्रेन फ़ाउंडेशन फ़ॉर एंथ्रोपोलॉजिकल रिसर्च के अलावा न्यूयॉर्क विश्वविद्यालय से मिली शोधवृत्ति का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। नाइजीरिया में मेरा अनुसंधान कानो राज्य इतिहास एवं संस्कृति ब्यूरो तथा अरेवा हाउस सेंटर फ़ॉर हिस्टॉरिकल डॉक्यूमेंटेशन इन कडुना की सहायता पर काफ़ी आश्रित रहा है। मैग मैक्लगान, फ़ाए गिंस्बर्ग, टी.ओ. बीडलमैन, लीला अबू-लुघोद, ब्रायन एडवर्ड्स और *विज़ुअल एंथ्रोपोलॉजी रिव्यू* के बेनाम समीक्षकों की टिप्पणियों के आधार पर इस निबंध में कई संशोधन किए गए हैं।

1. 1930, 1940 और 1950 के दशकों में कानो की सिनेमाई मुख्यधारा में ब्रिटिश और अमेरिकी फ़िल्मों का ही दबदबा था. पचास के दशक में यहाँ के सिनेमाघर मिस्र और भारत की पुरानी फ़िल्में भी दिखाने लगे. साठ के दशक के मध्य तक आते-आते मिस्र की फ़िल्में ग़ायब हो गईं और भारतीय फ़िल्में सबसे लोकप्रिय फ़िल्म विधा के रूप में सामने आईं (कम से कम उत्तरी नाइजीरिया में) हालाँकि अभी भी कुछ अमेरिकी और ब्रिटिश फ़िल्में काफ़ी लोकप्रिय थीं. सत्तर के दशक में हाँगकाँग की फ़िल्मों को लोकप्रियता मिलने लगी. जब नब्बे के दशक में मैंने अपना यह अनुसंधान किया उस समय कानो के सिनेमाघरों में भारतीय फ़िल्में सप्ताह में पाँच रात दिखाई जा रही थीं. हाँगकाँग की और अमेरिकी फ़िल्मों के लिए एक-एक दिन आरक्षित था. हाँगकाँग और अमेरिका की इन फ़िल्मों में से ज़्यादातर मारधाड़ वाली औसत दर्जे की फ़िल्में थीं। यहाँ के सिनेमा की मुख्यधारा में अफ़्रीकी फ़िल्मों को शायद ही कभी नियमित रूप से दिखाया गया है (इस प्रसंग में यारूबा फ़िल्म्स एक उल्लेखनीय अपवाद है। यह एक छोटा 'अपरिष्कृत' सिनेमा था जो योरूबा यात्रा थियेटर परंपरा से पैदा हुआ था। इन फ़िल्मों को ज़्यादातर मुख्यधारा के सिनेमाघरों में नहीं दिखाया जाता था बल्कि उन्हें नाटकीय मंचन के लिए बनाए गए पुराने प्रेक्षागृहों को किराए पर लेकर उनमें

प्रदर्शित किया जाता था).

2. रूसी फ़िल्म इतिहासकार यूरी त्सीवियान (1994) ने प्रेक्षागृह के तापमान, प्रोजेक्टर की जगह, रोशनी की गुणवत्ता और दृश्य एवं श्रव्य बाधाओं के स्वरूप पर ध्यान देते हुए सिनेमा जाने को एक सांवेगिक गतिविधि के रूप में बड़े सुंदर तरीक़े से व्यक्त किया है.

3. 'यह कहने में कोई हर्ज नहीं है कि अफ़्रीकियों को सस्ती दर वाली रात को ही सिनेमा में दाख़िल होने की अनुमति मिल पाती थी फिर भले ही वह ज़्यादा क़ीमत चुकाने को तैयार भी हो जाएँ'। टिकटों की क़ीमत के ज़रिए अनौपचारिक पृथक्करण दक्षिण भारत में भी एक प्रचलित पद्धति रहा है (स्टीफ़न ह्यूजेस, व्यक्तिगत संवाद)। इससे यह सवाल उठता है कि अलग-अलग नस्लों को एक-दूसरे से अलग रखने के लिए कट्टर नस्ली भेदभाव की बजाय क्या यही तरीक़ा पूरे अंग्रेज़ी साम्राज्य में प्रचलित था.

4. यहाँ तर्क दिया जा सकता है कि ये नाम हौसा की राजतंत्र व्यवस्था के आधार पर रखे गए थे। यह बात संभवतः सही है कि सिनेमाघरों के नाम कई बातों को ध्यान में रखकर रखे जा रहे थे. एक तरफ़ ये नाम ब्रिटिश साम्राज्य की भव्यता और दूसरी तरफ़ स्थानीय हौसा सरकार को ध्यान में रखकर चुने गए थे परंतु ये सभी नाम स्थानीय भाषा की बजाय अंग्रेज़ी में थे — सार्की की जगह लैटिन शब्द रेक्स (यह शब्द ब्रिटिश शाही परिवार के साथ संबंधों पर ज़ोर देता है), गिडान सार्की की जगह पैलेस और सरोन्या की जगह क्वीन.

5. 1946 में कानो के ज़िला अधिकारी सी.डब्ल्यू. राउलिंग ने कानो की भूमि पट्टेदारी व्यवस्था के अपने सर्वेक्षण में दर्ज किया कि अमीर के परिसर के पूर्व में स्थित क्षेत्र 'अभी भी अंग्रेज़ों से पहले के रीति-रिवाजों की तस्वीर पेश करता है. यहाँ अभी भी पारिवारिक परिसर हैं जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी एक ही परिवार के पास चले आ रहे हैं, मकानों को किराए पर देने की प्रथा नहीं है, रेहन रखने की व्यवस्था नहीं है. मरने वाला व्यक्ति परिवार के किसी ऐसे स्थानीय सदस्य को ही अपना मकान बेचता है जिसको कुछ और कमरों की ज़रूरत होती है.' (फ़्रिशमैन, 1977: 116-117)

6. टी.एस. राईस, मेमोरेंडम ऑन सेग्रीगेशन ऐण्ड टाउन प्लैनिंग, 1921. केएनए केनोलोकाउथ 5/2 142/1923 (फ़्रिशमैन, 1977).

7. 1926 में रेज़ीडेंट्स के सम्मेलन में कानो के रेज़ीडेंट अलेक्ज़ेंडर ने अपने भाषण के दौरान इस पद का प्रयोग किया था. इस शब्द के ज़रिए कानो के हौसा लोगों की नज़र में साबोन गारी के प्रतीकात्मक मूल्य को समझा जा सकता है (रेज़ीडेंट एलेक्ज़ेंडर ऑफ़ कानो, 1927, ऐलिन, 1976: 138 में उद्धृत).

8. इस सोच के मुताबिक़ युरोपीय कंपनियों को पुराने शहर में व्यापार करने की छूट नहीं थी. ईसाई मिशनरियों को उत्तर में अपनी गतिविधियों की कोई छूट नहीं थी और कानो (पुराना शहर और फ़ागे, जो शहर के उत्तर में स्थित एक परंपरागत व्यापारिक इलाक़ा था) के उत्तरी मुस्लिम इलाक़ों पर अमीर का राजनीतिक वर्चस्व क़ायम था.

9. उत्तरी नाइजीरिया में नियुक्त ब्रिटिश औपनिवेशिक अधिकारी दक्षिणी नाइजीरियनों को प्रायः हिक़ारत की नज़र से देखते थे. उनकी नज़र में दक्षिणी नाइजीरियन अपनी 'अफ़्रीकी' विरासत को ख़ारिज तो कर रहे हैं परंतु 'युरोपीय' रंग-ढंग में रंगने को तैयार नहीं हैं. इस्लामिक उत्तरी नाइजीरिया में सामाजिक ऊँच-नीच की व्यवस्था ब्रिटिश पूर्वाग्रहों के लिए फ़ायदेमंद थी इसलिए उसे बनाए रखने की पूरी कोशिशें की गईं. उत्तरी नाइजीरिया के एक गवर्नर जनरल का कहना था कि 'हम कोई हिंसक बदलाव नहीं चाहते'. (बैल, 1910/1911, एलीन, 1976: 51 में उद्धृत).

10. सिम्मेल (1950) ने अजनबी का जो सिद्धांत दिया था, साबोन गारी उसका एक बेहतरीन उदाहरण था। सिम्मेल का तर्क यह था कि अजनबी, जो अकसर एक व्यापारी होता है, नज़दीकी और दूरी के परस्पर विरोधी सिद्धांतों का वाहक होता है। यानी बाहरी होते हुए भी वह 'ख़ुद समूह का एक हिस्सा' ही होता है (सिम्मेल, 1950: 402).

11. फ़िल्म प्रदर्शन का यह तरीक़ा अमेरिका और ब्रिटेन में फ़िल्म इतिहास की नक़ल करता है. अमेरिका और ब्रिटेन में शुरुआती फ़िल्में आमतौर पर प्रहसन (देखें हानसेन, 1991), या नाटक (देखें चनान, 1996) के व्यापक कार्यक्रम के हिस्से के तौर पर दिखाई जाती थीं. इन कार्यक्रमों में गायक, कॉमेडियन और नर्तक भी अपना-अपना पार्ट अदा करते थे. इस तरह फ़िल्में भी शाम के इस मनोरंजन कार्यक्रम के कई तत्त्वों में से एक तत्त्व का रूप ले लेती थीं.

12. हालाँकि ख़ुद कुरान में भी तस्वीरें बनाने पर पाबंदी नहीं लगाई गई है परंतु हदीस (पैग़ंबर के उपदेश और कृत्य) में कलाकारों की हैसियत पर नकारात्मक बातें कही गई हैं (देखें ब्रावमान, 1974; ग्रेबर, 1973).

13. बाद में यह नाम मुख्य रूप से ब्रिटिश सरकार के गतिशील सिनेमाघरों पर लागू होने लगा। ये सिनेमाघर शैक्षणिक एवं प्रचार संबंधी फ़िल्में दिखाने के लिए शहरों और गाँवों में जाते रहते थे.

14. बाद में इन दोनों शब्दों की जगह सिनिमा या सिलिमा — इन दो ज़्यादा तटस्थ शब्दों ने ले ली.

15. 'नैतिक' शब्द के इस्तेमाल से मैं दो चीज़ों की तरफ़ संकेत कर रहा हूँ। कानो में सिनेमाघर को एक अनैतिक, यौन-विषयक स्थान के रूप में परिभाषित किया गया है. वहाँ यह एक ऐसी जगह है जिसे कभी सामाजिक स्वीकार्यता नहीं मिल पाई. दूसरी तरफ़ एक निहित स्तर पर मैं बीडेलमान (1993) द्वारा दी गई नैतिकता की उस अवधारणा का अनुसरण कर रहा हूँ जो छवियों और व्यवहारों का एक ऐसा समूह है जिसके ज़रिए लोग अपनी दुनिया को समझ भी सकते हैं और उसके भीतर रहते हुए इस प्रकार कार्य भी कर सकते हैं जो उनकी नैतिक समझ के अनुरूप भी हो और उसे चुनौती भी देता हो. बीडेलमान के लिए जगह एक 'नैतिक रूपक', एक ऐसा सामाजिक उत्पाद है जो समाज व व्यक्तित्व की कल्पित व्यवस्था को सूत्रबद्ध करता है और व्यक्ति एवं समाज के बारे में और उनके बीच टकराव के संबंध में आधारभूत विचार

प्रस्तुत करता है। नैतिक परिधि में कल्पना की सक्रिय उपस्थिति के बारे में बीडेलमान के तर्क में परिधि को मानवीय क्रियाओं की देन, एक सचेत निर्मिति के रूप में देखने की सुविधा मिल जाती है.

16. देखें, नाइजीरियाई राष्ट्रीय अभिलेखागार और न्यायमूर्ति परसी ई. ह्यूबार्ड.

17. अफ़्रीका के दूसरे हिस्सों की तरह हौसा समाज में भी बद्दुआओं (Rlhus/curse) को एक शक्तिशाली जादुई ताक़त के रूप में देखा जाता है. वहाँ के लोगों का विश्वास है कि कुछ लोगों के पास अपनी बद्दुआओं को साकार करने की चमत्कारिक शक्ति होती है लेकिन यदि इस शक्ति से लैस कोई व्यक्ति शैतानी इरादे नहीं रखता तो वह अपनी इस शक्ति का प्रयोग नहीं करता है. एक व्यक्ति ने इस व्याख्या के बारे में समझाते हुए मुझे बताया कि अल दुनिया के निर्माण को इतने ज़्यादा लोग बद्दुआएँ दे रहे थे कि उन सारी बद्दुआओं के मिले-जुले वजन से ही सिनेमाघर मिट्टी में मिल गया.

18. सानी मेनागे में कानो राज्य इतिहास एवं संस्कृति ब्यूरो (एचसीबी) एक बिना छत वाला थियेटर चलाता है जिसे प्रसिद्ध कोरोसो नृत्य मंडली द्वारा दिखाए जाने वाले नाटकों और नृत्य कार्यक्रमों के लिए प्रयोग किया जाता है. जब एचसीबी इस थियेटर का इस्तेमाल नहीं कर रहा होता है तो एक प्रोजेक्शन युनिट के ज़रिए हौसा के नाटक और भारत व हाँगकाँग की फ़िल्मों के वीडियो कैसेट वहाँ चलाए जाते हैं. उस समय यह एक सिनेमाघर जैसा दिखाई देता है मगर एक सरकारी संस्थान की काई और प्राधिकार भी उसमें साफ़ दिखाई देता है.

संदर्भ

रॉबर्ट सी. ऐलन, 'मोशन पिक्चर एक्ज़ीबिशन इन मैनहैटन, 1906-1912 : बियॉन्ड द निक्लॉडियॉन'. यह लेख जॉन फ़ेल (सं) *फ़िल्म बिफ़ोर ग्रिफ़िथ*, युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ॉर्निया, बर्कले, 1983 में संकलित है, पृ. 162-75.

डेविड एडली ऐलिन, 'द साबॉन गारी सिस्टम इन नॉर्दर्न नाइजीरिया', पीएचडी शोध प्रबंध, युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ॉर्निया, लॉस एंजिलिस, 1976.

अर्जुन अप्पादुरई, *मॉडर्निटी ऐट लार्ज*, मिनियापॉलिस, 1996 में 'द प्रोडक्शन ऑफ़ लोकैलिटी', पृ. 178-99.

वॉल्टर आर्मब्रस्ट, 'ह्वेन द लाइट्स गो डाउन इन काइरोः सिनेमा ऐज़ सेक्युलर रिचुअल', *विज़ुअल ऐंथ्रॉपॉलजी*, 10; 1998 पृ. 413-42.

पूनम अरोड़ा, 'इम्पेरिलिंग द प्रैस्टीज ऑफ़ द ह्वाइट वूमेनः कॉलोनियल एंग्ज़ाइटी ऐण्ड फ़िल्म सेंसरशिप इन ब्रिटिश इंडिया', *विज़ुअल ऐंथ्रॉपॉलजी रिव्यू*, 1 (2), 1997, पृ. 36-49.

करीन बार्बर, 'प्रिलिम्नरी नोट्स ऑन दि ऑडियेंस इन अफ़्रीका', *ऐफ़्रीका*, 67(3), 1997, पृ. 349-62.

बावूरो एम. बारकिंडो, 'ग्रोइंग इस्लामिज़्म इन कानो सिटी सिंस 1970: कॉज़ेज़, फॉर्म्स ऐण्ड इंप्लिकेशंस'. यह लेख लुई ब्रेनर (सं.) *मुस्लिम आइडेंटिटी ऐण्ड सोशल चेंज इन सब-सहारन अफ़्रीका*, ब्लूमिंग्टन 1993. में संकलित है, पृ. 91-105.

रोलाँ बार्थ, *माइथॉलजीज़*, लंदन 1986.

टी.ओ. बीडेलमैन, *मोरल इमैजिनेशन इन कागुरू मोड्स ऑफ़ थॉट*, वॉशिंगटन, 1993.

वॉल्टर बेंयामिन, 'द वर्क ऑफ़ आर्ट इन द ऐज ऑफ़ मेकैनिकल रिप्रोडक्शन', *इल्यूमिनेशंस*, न्यूयॉर्क, 1978, पृ. 217-51.

---------, पेरिस, 'कैपिटल ऑफ़ द नाइंटीन्थ सेंचुरी', *रिफ़्लेक्शंसः एसेज़, एफ़ॉरिज़्म्स ऑटोबायोग्रैफ़िकल राइटिंग्स*, न्यूयॉर्क, 1979.

एलीन बाउज़र, *द ट्रांसफ़ॉर्मेशन ऑफ़ सिनेमा*, 1907-1915, न्यूयॉर्क, 1990.

सूज़न बक-मॉर्स, *द डायलेक्टिक्स ऑफ़ सीइंगः वॉल्टर बेंयामिन ऐण्ड दि आर्केड्स प्रोजेक्ट*, मैसाच्यूसेट्स, 1989.

माइकल शैनन, *द ड्रीम दैट किक्सः द प्रीहिस्ट्री ऐण्ड दि अर्ली इयर्स ऑफ़ सिनेमा एंटरटेनमेंट इन ब्रिटेन*, लंदन, 1996.

ऐन फ़्रीडबर्ग, *विंडो शॉपिंगः सिनेमा ऐण्ड द पोस्टमॉडर्न*, बर्कली, 1993.

मिनाउ फ़्यूगेलसैंग, *वेल्स ऐण्ड वीडियोज़ः फ़ीमेल यूथ कल्चर ऑन द कीनियन कोस्ट*, स्टॉकहोम, 1994.

ओलेग ग्रैबॉर, *द फ़ॉर्मेशन ऑफ़ इस्लामिक आर्ट*, न्यू हेवन, 1973.

मिरियम हेंसेन, *बैबेल ऐण्ड बियॉन्डः स्पेक्टेटरशिप इन अर्ली सायलेंट फ़िल्म*, मैसाच्यूसेट्स, 1991.

जेफ़्री डी. हिमपेले, 'फ़िल्म डिस्ट्रीब्यूशन ऐज़ मीडियाः मैपिंग डिफ़रेंस इन द बोलिवियन सिनेमास्केप', *विज़ुअल ऐंथ्रॉपॉलजी रिव्यू*, 12(1), 1996, पृ. 47-66.

मर्विन हिस्कैट, *द डिवेलपमेंट ऑफ़ इस्लाम इन वेस्ट अफ़्रीका*, लंदन, 1984.

स्टीफ़ेन पी. ह्यूज़, 'पुलिसिंग सायलेंट फ़िल्म एक्ज़ीबिशन इन साउथ इंडिया', यह लेख रवि वासुदेवन (सं.) *मेकिंग मीनिंग इन इंडियन सिनेमा*, दिल्ली, 1999 में संकलित है.

लिन किर्बी, *पैरेलल ट्रैक्सः द रेल रोड ऐण्ड सायलेंट सिनेमा*, डरहैम, 1997.

रिचर्ड कोस्ज़ार्स्की, *ऐन इवनिंग्स एंटरटेनमेंटः दि एज ऑफ़ द सायलेंट फ़ीचर पिक्चर 1915-1928*, न्यूयॉर्क, 1990.

सिगफ़्रीड क्रैकॉर, *द मैस ऑर्नामेंटः वाइमर एसेज़*, मैसाच्यूसेट्स, 1995.

ऐनेट कून, *सिनेमा, सेंसरशिप ऐण्ड सेक्शुऑलिटी 1909-1925*, लंदन, 1988.

ब्रायन लार्किन, 'इंडियन फ़िल्म्स नाइजीरियन लवर्सः मीडिया ऐण्ड द क्रिएशन ऑफ़ पैरेलल मॉडर्निटीज़', *ऐफ़्रीका,* '67 (3), 1997, पृ. 406-40.

--------, इंट्रोडक्शन टू मीडिया टैक्नॉलजीज़ ऐण्ड द डिज़ाइन फ़ॉर मॉर्डन लीविंग, *विज़ुअल ऐंथ्रॉपॉलजी रिव्यू,* 14(2), 1999, पृ. 11-13.

--------, 'थियेटर्स ऑफ़ द प्रोफ़ेन : सिनेमा ऐण्ड कॉलोनियल अर्बनिज़्म', *विज़ुअल ऐंथ्रॉपॉलजी रिव्यू,* 14(2), 1999b, पृ. 40-62.

फिलीस मार्टिन, *लेज़र ऐण्ड सोसाइटी इन कॉलोनियल ब्रैज़ाविले*, इंग्लैंड, 1995.

डैनियल मिलर, 'ह्वाय सम थिंग्स मैटर', यह लेख डैनियल मिलर (सं.), *मैटीरियल कल्चर्सः ह्वाय सम थिग्स मैटर,* शिकागो 1997 में संकलित है.

टिमॉथी मिचेल, *कॉलोनाइज़िंग ईजिप्ट,* बर्कली, 1991.

चार्ल्स मूसर, *द एमर्जेंस ऑफ़ सिनेमाः द अमेरिकन स्क्रीन टू 1907*, बर्कली, 1990.

पैट्रिस पेट्रो, *जॉयलेस स्ट्रीट्सः विमेन ऐण्ड मेलोड्रैमैटिक इमैजिनेशन इन वाइमर जर्मनी*, प्रिंस्टन, 1989.

बूल्फ़गैंग शिवेलबुश, *द रेलवे जर्नी : दि इंडस्ट्रियलाइज़ेशन ऑफ़ टाइम ऐण्ड स्पेस इन द नाईंटीन्थ सेंचुरी*, बर्कली, 1986.

रॉबर्ट स्क्लार, *मूवी-मेड अमेरिका : ए कल्चरल हिस्ट्री ऑफ़ अमेरिकन मूवीज़,* न्यूयॉर्क, 1975.

इब्राहिम ताहिर, *स्कॉलर्स, सेंट्स ऐण्ड कैपिटलिस्ट् स इन कानो 1904-1974 : द पैटर्न ऑफ़ बुर्जुआ रेवॉलूशन इन ऐन इस्लामिक सोसाइटी*, पीएच. डी. शोधप्रबंध केम्ब्रिज युनीवर्सिटी, 1975.

एलिज़ाबेथ थॉम्सन, *कॉलोनियल सिटिज़ंसः रिपब्लिकन राइट्स, पैटर्नल प्रिविलेज ऐण्ड जेंडर इन फ़्रेंच सीरिया ऐण्ड लेबनान,* न्यूयॉर्क, 2000.

यूरी सिवियन, *अर्ली सिनेमा इन रशा ऐण्ड इट्स कल्चरल रिसेप्शन,* न्यूयॉर्क, 1994.

माइकल वॉट्स, 'प्लेस, स्पेस ऐण्ड कम्युनिटी इन ऐन ऐफ़्रिकन सिटी', यह लेख पैट्रिशिया यीगर (सं.) *द जॉग्रफ़ी ऑफ़ आइडेंटिटी*, ऐन आर्बर, 1996 में संकलित है, पृ. 59-97.